शास्त्रों का अर्थ करने की पद्धति

व्यवहारनय स्वद्रव्य-परद्रव्यको तथा उनके भावोंको तथा कारण-कार्यादिकको किसीके किसीमें मिलाकर निरूपण करता है, और ऐसे ही श्रद्धान से मिथ्यात्व है, इसलिये उसका त्याग करना चाहिये। और निश्चयनय उन्हीं का यथावत् निरूपण करता है तथा किसीको किसीमें नहीं मिलाता, और ऐसे ही श्रद्धान से सम्यक्त्व होता है, इसलिये उसका श्रद्धान करना चाहिये।

प्रश्नः—यदि ऐसा है तो जिनमार्गमें दोनों नयोंका ग्रहण करना कहा है, उसका क्या कारण ?

उत्तरः—जिनमार्गमें कहीं तो निश्चयनय की मुख्यता सहित व्याख्यान है, उसे तो "सत्यार्थ ऐसा ही है"—ऐसा जानना, तथा कहीं व्यवहारनय की मुख्यता से व्याख्यान है उसे "ऐसा नहीं है किन्तु निमित्तादि की अपेक्षा से यह उपचार किया है"—ऐसा जानना, और इसप्रकार जाननेका नाम ही दोनों नयों का ग्रहण है। किन्तु दोनों नयों के व्याख्यानको समान सत्यार्थ जानकर "इस अनुसार भी है और इस अनुसार भी है"-ऐसे भ्रमरूप प्रवर्तनसे तो दोनों नयोंको ग्रहण करना नहीं कहा है।

प्रश्नः—यदि व्यवहारनय असत्यार्थ है तो जिनमार्गमें उसका उपदेश किसलिये दिया गया ? एक निश्चय का ही निरूपण करना था ?

उत्तरः—ऐसा ही तर्क श्री समयसार में किया है। वहाँ यह उत्तर दिया है कि—जिसप्रकार किसी अनार्य-म्लेच्छको म्लेच्छभाषा बिना अर्थग्रहण कराने के लिए कोई समर्थ नहीं है, उसीप्रकार व्यवहारके बिना परमार्थ का उपदेश असम्भव है, इसलिये व्यवहार का उपदेश है। और उसी सूत्र की व्याख्या में ऐसा कहा है कि—इसप्रकार निश्चयको अंगीकार कराने के लिये व्यवहार द्वारा उपदेश देते हैं, किन्तु व्यवहारनय है वह अंगीकार करने योग्य नहीं है।

(—श्री मोक्षमार्ग प्रकाशक)

सेठी ग्रन्थमाला के प्रकाशन

नियमसारजी शास्त्र	५–५०
पंचास्तिकाय शास्त्र	४–५०
छहढ़ाला	०–८१
जैन सिद्धान्त प्रश्नोत्तरमाला प्रथम भाग	०–६२
,, ,, द्वितीय भाग	०–६२
,, ,, तृतीय भाग	०–६२
अपूर्व अवसर	

सत्पुरुष श्री कानजीस्वामी के आध्यात्मिक वचनों का

अपूर्व लाभ लेने के लिये निम्नोक्त पुस्तकों का

अवश्य स्वाध्याय करें

पुस्तक				मूल्य
पंचास्तिकाय-मूल टीका-अनु०				४-५०
मूल में भूल				०-५०
मुक्ति का मार्ग				०-५०
पंचमेरु आदि पूजा संग्रह				०-७५
समयसार प्रवचन भाग १	मू०	४-७५	भाग २	५-२०
नियमसार				५-५०
मोक्षमार्ग प्रकाशक की किरणें भाग १		१-००	भाग २	२-०
जैन सिद्धान्त प्रश्नोत्तर माला भाग १		०-६२	भाग २	०-६२
			भाग ३	०-६२
जैन बाल पोथी				०-२५
ज्ञान स्वभाव-ज्ञेय स्वभाव				२-५०
सम्यग्दर्शन				१-६२
छहढाला-नयी आवृत्ति बड़ी टीका				०-८१
जैन तीर्थ पूजा पाठ संग्रह यात्रा की जानकारी सहित सजिल्द				१-५०
भेद विज्ञान सार				२-०
अध्यात्म पाठ संग्रह				३-०
निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध क्या है				०-१५
दशलक्षण धर्म				०-५३
लघु जैन सिद्धान्त प्रवेशिका				०-१६
आत्मधर्म मासिक वार्षिक मूल्य				३-०
,, की फाइलें वर्ष १-३-५-६-७-८-१०-आदि प्रत्येक				३-७५
शासन प्रभाव				०-१२
मोक्षशास्त्र ९०० पेज जिसमें शुद्ध तत्त्वज्ञान की निधि भी है				५-०

अर्पण

परम कृपालु पूज्य

आत्मार्थी सत्पुरुष श्री कानजी स्वामी के

पुनीत कर कमल में

जिनके उत्कृष्ट अमृतमय उपदेश को प्राप्त कर इस पामर ने अपने अज्ञान अंधकार को दूर करने का यथार्थ मार्ग प्राप्त किया है ऐसे महान महान उपकारी सत् धर्म प्रवर्तक पूज्य श्री कानजी स्वामी के कर कमल में अत्यंत आदर एवं भक्तिपूर्वक यह पुस्तिका अर्पण करता हूँ और भावना करता हूँ कि आपके बताये मार्ग पर निश्चलरूप से चलकर निःश्रेयस दशा को प्राप्त करूं।

विनम्र सेवक—

मीठालाल सेठी

गुजराती संस्करण की

प्रस्तावना

सुप्रसिद्ध जैन तत्त्ववेत्ता परमपूज्य समयज्ञ श्रीमद्रायचन्द्रजी ने सं० १६५२ के मंगसर माह में अपनी जन्म भूमि ववाणिया में 'अपूर्व अवसर' नामक काव्य की रचना की थी। वे वीतराग के महान उपासक और आत्म ज्ञानी थे। उनको बाल्यावस्था में ही जातिस्मरण ज्ञान हुआ था। उनकी निवृत्ति की तीव्र अभिलाषा थी, निवृत्ति की भावना इस काव्य में बहुत सुन्दर और प्रभावक रीति से व्यक्त की गई है।

यह काव्य जैन समाज व अन्य धर्मानुयायियों में भी बहुत प्रसिद्ध है, प्रिय है और अनेक स्थानों पर प्रार्थना रूप में पढ़ा जाता है।

श्रीमद् ने यह भावना अपने निश्चय सम्यग्दर्शन प्रगट होने के बाद भायी थी, इससे ऐसा समझना चाहिये कि धर्म का प्रारम्भ निश्चय सम्यग्दर्शन होने पर ही होता है। निश्चय सम्यग्दर्शन पूर्वक ही सच्चा चारित्र हो सकता है यह सिद्धांत इस कव्य में स्पष्ट रूप में प्रतिपादित किया है।

श्रीमद् ने सर्वज्ञ वीतराग कथित द्रव्य और भाव साधुत्व प्रकट कर केवलज्ञान प्राप्ति की तीव्र पुरुषार्थ की भावना की है और उस दशा को शीघ्र प्रकट करने के लिए वे अत्यन्त उत्सुक थे,

यह इस काव्य से ज्ञात होता है। इस काव्य की नवमीं गाथा द्रव्यलिंगी और भावलिंगी साधु के स्वरूप का वर्णन सुन्दर रीति किया गया है तथा उपसर्ग के आनेपर ज्ञानी की कैसी दशा होती है यह भी इसमें बताया है।

इस काव्य में गंभीर तत्त्व का रहस्य सन्निहित किया गया है। विक्रम सं० १९९५ में राजकोट के चातुर्मास में परम पूज्य श्री कानजी स्वामी ने महान उपकार किया उनमें से इस काव्य पर उन्होंने प्रवचन किये। इन प्रवचनों में इस काव्य पर गूढ रहस्य अति सरल सुन्दर और स्पष्ट भाषा में प्रकट किया है। इससे मुमुक्षुओं को बहुत लाभ हुआ। बहनें, युवा, और वृद्ध सब किसी के समझने योग्य इन प्रवचनों से सब कोई लाभ लें ऐसा मेरा अनुरोध है।

श्री वंशीधरजी शास्त्री M. A. (कलकत्ता) ने इस पुस्तक का अनुवाद खास प्रेमपूर्वक भेंट दिया है, आपको इस साहित्यका इतना प्रेम है कि आपने वीरवाणी में इसका १२ पद्य तक का प्रवचन छपवाया है और पुस्तक रूप में छपजाय-अच्छा प्रचार हो ऐसी प्रेरणा की है, आपका आभार मानता हूँ।

इस पुस्तक की गुजराती में दूसरी आवृत्ति समाप्त होने पर अनेक मुमुक्षुओं की मांग पर तीसरी आवृत्ति प्रकाशित की गई है। उसमें ब्र० गुलाबचन्द भाई ने योग्य शुद्धि की है। फिर भी कोई गल्ती हो तो पाठक सुधार लें। अन्त में इस पुस्तक को शांत चित्त से पढ़ने की जिज्ञासुओं से प्रार्थना करते हुए मैं लेखनी को विराम देता हूँ।

वीर सं० २४८७
वि० सं० २०१७
दशलक्षणी पर्व

रामजी माणकचंद दोशी
प्रमुख—श्री दि० जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट
सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

परमपद प्राप्तिकी भावना

(अंतर्गत)

गुणश्रेणीस्वरूप

—ॐ—

अपूर्व अवसर एवो क्यारे आवशे ?
क्यारे थइशुं, बाह्यांतर निर्ग्रन्थ जो ?
सर्व सम्बन्धनुं बंधन तीक्ष्ण छेदीने,
विचरशुं कव महत्पुरुषने पंथ जो ।।अपूर्व० ।।१।।

सर्व भावथी औदासीन्य वृत्ति करी,
मात्र देह ते संयमहेतु होय जो;
अन्य कारणे अन्य कशुं कल्पे नहीं,
देहे पण किंचित् मूर्छा नव जोय जो ।अपूर्व०।।२।।

दर्शनमोह व्यतीत थई उपज्यो बोध जे,
देह भिन्न केवल चैतन्यनुं ज्ञान जो;
तेथी प्रक्षीण चारितमोह विलोकिये,
वर्त्ते एवुं शुद्ध स्वरूपनुं ध्यान जो ।अपूर्व०।।३।।

आत्मस्थिरता त्रण संक्षिप्त योगनी,
मुख्यपणे तो वर्त्ते देह पर्यंत जो;

घोर परिषह के उपसर्ग भये करी,
आवी शके नहीं ते स्थिरतानो अंत जो ।अपूर्व॰।।४।।

संयमना हेतुथी योग प्रवर्तना,
स्वरूप लक्षे जिन आज्ञा आधीन जो;
ते पण क्षण क्षण घटती जाती स्थितिमां,
अंते थाये निजस्वरूपमां लीन जो ।अपूर्व॰।।५।।

पंच विषयमां रागद्वेष विरहितता,
पंच प्रमादे न मले मननो क्षोभ जो;
द्रव्य, क्षेत्र ने काल, भाव प्रतिबंधवण,
विचरवुं उदयाधीन पण वीतलोभ जो ।अपूर्व॰।।६।।

क्रोध प्रत्ये तो वर्त्ते क्रोध स्वभावता,
मान प्रत्ये तो दीनपणानुं मान जो;
माया प्रत्ये साक्षी माया भावनी,
लोभ प्रत्ये नहीं लोभ समान जो ।अपूर्व॰।।७।।

बहु उपसर्ग-कर्त्ता प्रत्ये पण क्रोध नहीं,
वंदे चक्रि तथापि न मले मान जो;
देह जाय पण माया थाय न रोममां,
लोभ नहीं छो प्रबल सिद्धि निदान जो ।अपूर्व॰।।८।।

नग्न भाव मुंडभाव सह अस्नानता,
अदंत धोवन आदि परम प्रसिद्ध जो;

केश रोम नख के अंगे शृंगार नहीं,
द्रव्य-भाव संयममय निर्ग्रंथ सिद्ध जो ।अपूर्व०।।९।।

शत्रु मित्र प्रत्ये वर्त्तें समदर्शिता,
मान अमाने वर्त्तें ते ज स्वभाव जो;
जीवित के मरणे नहीं न्यूनाधिकता,
भव मोक्षे पण शुद्ध वर्त्तें समभाव जो ।अपूर्व०।।१०।।

एकाकी विचरतो वली स्मशानमां,
वली पर्वतमां वाघ सिंह संयोग जो;
अडोल आसन ने मनने नहीं क्षोभता,
परम मित्रनो जाणे पाम्या योग जो ।अपूर्व०।।११।।

घोर तपश्चर्यामां पण मनने ताप नहीं,
सरस अन्ने नहीं मनने प्रसन्न भाव जो;
रजकण के ऋद्धि वैमानिक देवनी,
सर्वे मान्या पुद्‌गल एक स्वभाव जो ।अपूर्व०।।१२।।

एम पराजय करीने चारितमोहनो,
आव्युं त्यां ज्यां करण अपूर्व भाव जो;
श्रेणी क्षपकतणी करीने आरूढ़ता,
अनन्य चिंतन अतिशय शुद्ध स्वभाव जो ।अपूर्व०।।१३।।

मोह स्वयंभूरमण समुद्र तरी करी,
स्थिति त्यां ज्यां क्षीणमोह गुणस्थान जो;

अंत समय त्यां पूर्णस्वरूप वीतराग थइ,
प्रगटावु निज केवलज्ञान निधान जो ।अपूर्व०॥१४॥

चार कर्म घनघाती ते व्यवच्छेद ज्यां,
भवनां बीज तणो आत्यंतिक नाश जो;
सर्व भाव ज्ञाता दृष्टा सह शुद्धता,
कृतकृत्य प्रभु वीर्य अनंत प्रकाश जो ।अपूर्व०॥१५॥

वेदनीयादि चार कर्म वर्त्ते जहां,
बली सींदरीवत् आकृति मात्र जो;
ते देहायुष आधीन जेनी स्थिति छे,
आयुष् पूर्णे, मटिये दैहिकपात्र जो ।अपूर्व०॥१६॥

मन, वचन, काया ने कर्मनी वर्गणा,
छूटे जहां सकल पुद्गल संबंध जो;
एवु अयोगी गुणस्थानक त्यां वर्ततु,
महाभाग्य सुखदायक पूर्ण अबंध जो ।अपूर्व०॥१७॥

एक परमाणु मात्रनी मले न स्पर्शता,
पूर्ण कलंक रहित अडोल स्वरूप जो;
शुद्ध निरंजन चैतन्यमूर्ति अनन्यमय,
अगुरुलघु अमूर्त्त सहजपदरूप जो ।अपूर्व०॥१८॥

पूर्व प्रयोगादि कारणना योगथी,
उर्ध्वगमन सिद्धालय प्राप्त सुस्थित जो;

सादि अनंत अनंत समाधि सुखमाँ,
अनंत दर्शन ज्ञान अनंत सहित जो ।अपूर्व०॥१९॥

जे पद श्री सर्वज्ञे दीठुं ज्ञानमां,
कही शक्या नहीं पण ते श्री भगवान जो;
तेह स्वरूपने अन्यवाणी ते शुं कहे ?
अनुभव गोचर मात्र रह्युं ते ज्ञान जो ।अपूर्व०॥२०॥

एह परमपद प्राप्तिनुं कर्युं ध्यान में,
गजा वगर ने हाल मनोरथ रूप जो;
तो पण निश्चय राजचंद्र मनने रह्यो,
प्रभु आज्ञाए थाशुं ते ज स्वरूप जो ।अपूर्व०॥२१॥

वचनामृत
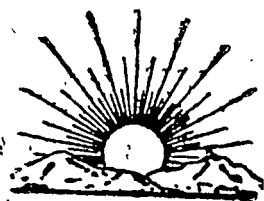
आत्म भ्रान्ति समरोग नहिं, सद्गुरु वैद्य सुजान;
गुरु आज्ञा सम पथ्य नहीं, औषध विचार ध्यान,

* * *

उपजे मोह विकल्प से, समस्त यह संसार;
अन्तर्मुख अवलोकते, विलय होत तत्काल,

* * *

वचनामृत वीतराग के, परमशांत रस मूल;
औषध जो भवरोगके, कायर को प्रतिकूल,

* * *

शुद्ध, बुद्ध, चैतन्यघन, स्वयं ज्योति सुखधाम;
दूसरा कहना कितना ? कर विचार तो पाम,
आत्मा सत् चैतन्य मय, सर्वाभास रहित;
जिससे केवल पाइये, मोक्ष पंथ ये रीत,

गुणस्थानक क्रमारोहण , परमपद प्राप्तिकी भावना

श्रीमद् रायचंद्र प्रणीत

अपूर्व अवसर

पर

श्री कानजी स्वामी के प्रवचन

इस काव्य में मुख्यतया परमपद (मोक्ष) की प्राप्ति की भावना व्यक्त की गई है। आत्मा त्रिकाल ज्ञाता दृष्टा स्वरूप अनन्त गुणों का पिंड है; उसका अनुभव करने के लिए सर्वज्ञ वीतराग की आज्ञानुसार तत्त्वार्थों की निश्चय श्रद्धा कर, ज्ञानानन्द स्वभाव की तरफ प्रवृत्त होने का पुरुषार्थ बढ़ने से क्रमशः शुद्धता की वृद्धि होती है। इस अपेक्षा से जीव की अवस्था में १४ गुणस्थान होते हैं। उनमें से चौथे गुणस्थान से विकास की श्रेणी प्रारम्भ होती है।

श्रीमद् रायचन्दजी ने अपनी जन्मभूमि, ववाणिया (सौराष्ट्र) में प्रातःकाल अपनी मातुश्री की शय्या पर बैठकर इस 'अपूर्व अवसर' नामक काव्य की रचना की थी।

जैसे महल के ऊपर चढ़ने के लिए सीढ़ियाँ होती हैं वैसे ही मोक्ष रूपी महल में जाने के लिए १४ सीढ़ियाँ हैं। उनमें से प्रथम सम्यग्दर्शनरूप चौथे गुणस्थान से मंगलमय प्रारम्भ करते हैं। आत्म-स्वरूप की जागृति की वृद्धि के लिए यह भावना है।

अपूर्व अवसर एवो क्यारे आवशे ?
क्यारे थइशुं बाह्यांतर निर्ग्रंथ जो ?
सर्व संबंधनुं बंधन तीक्ष्ण छेदीने ?
विचरशुँ कव महत्पुरुष ने पंथ जो ? अपूर्व० ॥१॥

गृहस्थ धर्मात्मा आत्मा की प्रतीति सहित पूर्णता का लक्ष्य रखते हुए इन तीन प्रकार की मनोरथ (भावना) भाता है। (१) मैं सब सम्बन्धों से छूटूं (२) स्त्री आदि बाह्य परिग्रह तथा कषायरूप अभ्यंतर परिग्रह का पुरुषार्थ द्वारा त्याग कर निर्ग्रन्थ मुनि होऊँ और (३) मैं अपूर्व समाधिमरण प्राप्त करूँ। किन्तु संसारी मोही जीव यह मनोरथ–भावना भाता है कि मैं गृहस्थ कुटुम्ब की वृद्धि करूँ, धन, घर, पुत्र परिवार की वृद्धि हो और हरा भरा खेत (भरा पूरा परिवार) छोड़कर मरूँ; यह विपरीत भावना ही संसारी जीव भाता है।

"अपूर्व अवसर" का अर्थ बाह्य अपूर्व काल नहीं है किन्तु इसका अर्थ आत्मद्रव्य में अपूर्व स्वकाल होता है, वह शुद्ध स्वभाव की परिणति है। प्रत्येक वस्तु स्वचतुष्टय युक्त है, स्वाधीन है। वह स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल और स्वभाव रूप है, वह नित्य टिककर परिणमती है। पहले आत्मा अज्ञान भाव में रागादि परभाव वाला होकर पररूप अपने को मानता हुआ परिणमन करता था किन्तु जबसे

यथार्थ सत्समागम द्वारा शुद्धात्मा की अंतरंग प्रतीति अत्यन्त पुरुषार्थ से की तब से स्वभाव में परिणमन हुआ। वह परिणमन ही इस आत्मा की शुद्ध अवस्था का काल है, वह 'स्वकाल' कहलाता है। आत्म–ज्ञान द्वारा स्वभाव का भान रहता है किन्तु अभी पूर्ण शुद्ध पर्याय प्रकट नहीं हुई, उसे पूर्ण करने के लिए स्वरूप के भान सहित यह भावना है।

इस 'अपूर्व' में अनेक अर्थ गर्भित हैं, इसलिए इस 'अपूर्व' मंगलीक से भावना का प्रारम्भ किया जाता है। पहले अनुत्पन्न अपूर्व (भावकाल) कैसे आएगा ? साधक इस मनोरथ को साधता है। मनोरथ होने में मन तो निमित्त है किन्तु ज्ञान द्वारा उसको अस्वीकार कर साधक जीव स्वरूप चिंतन की जागृति का उद्योत करता है। स्वरूप की भावना का (मनोरथ का) प्रवाह चलता है, उसके साथ स्वभाव परिणति का प्रवाह भी चलता है। उस भावना के साथ मन का निमित्त है तथा राग का अंश है उससे विचार का क्रम होता है और उसमें लोकोत्तर पुण्य का बंध सहज ही हो जाता है, किन्तु प्रारम्भ से ही उसकी अस्वीकारता है। उसे भेदों और विकल्पों का आदर नहीं है किन्तु अतीन्द्रिय भावमनोरथ का स्वरूप चिंतवन है। तत्त्वस्वरूप की भावना विचारते हुए अपने मन का निमित्त आता है। पूर्ण शुद्धात्म स्वरूप सिद्ध परमात्मा जैसा है ऐसा अपना स्वरूप लक्ष्य में रखकर पूर्णता के लक्ष्य से श्रीमद् आत्मस्वरूप की भावना करते हैं। ऐसी यथार्थ निर्ग्रन्थ दशा, स्वरूप स्थिति का अपूर्व अवसर कब होगा, ऐसी अपने स्वभाव की भावना है।

"मैं कब अंतरंग एवं बहिरंग से निर्ग्रन्थ होऊँगा अर्थात्

अभ्यंतर राग द्वेष की ग्रंथि से और बाह्य से (स्त्री धनादि तथा कुटुम्ब से) निवृत्त होऊँ यह भावना भाता है। वह वीतराग दशा धन्य है। वह निर्ग्रन्थ मुनिपद धन्य है! वह पूर्ण दिगम्बर सर्वोत्कृष्ट साधक दशा धन्य है!

"सर्व सम्बन्धों का तीक्ष्ण बन्धन छेदकर" शारीरिक, मानसिक तथा द्रव्यकर्म का सम्बन्ध (मोह) छोड़कर मुनि दशा प्रगट करूँ; आत्मा अबन्ध स्वरूप है, उसके ज्ञान की स्थिरता को सूक्ष्म रीति से जान कर मैं भेद ज्ञान द्वारा कर्मोदय की सूक्ष्म संधि को नष्ट करूँ ऐसी यह भावना है। आत्मस्वरूप के भान द्वारा रागरहित ज्ञान में स्थिरता होते ही अनादि संतानरूप संसारवृक्ष का मूल—रागद्वेष, की गांठ छिन्नभिन्न होकर नष्ट हो जाती है।

"महान् पुरुषों के मार्ग में कब विचरूँगा" संसार में स्वच्छंदी लड़का इच्छा करता है कि कब मेरा पिता मरे और मैं सब अधिकार और कारबार कब्जे में करूँ? उससे विपरीत इस लोकोत्तर मार्ग का साधक जीव यह भावना भाता है कि अतीन्द्रिय ज्ञान-दर्शन-चारित्र-स्वरूप मोक्षमार्ग में प्रवर्तने के लिए तीर्थंकर भगवान कब मिले और कोई महान् बुद्धिमान निर्ग्रन्थ जिस पंथ में आत्मस्वरूप में विचरे उस पंथ में मैं वीतराग कुल की टेक-मर्यादानुसार कब विचरूँगा? यह सनातन शाश्वत आत्मधर्म का सद्भूत व्यवहार है। अनन्त ज्ञानी पुरुषों ने जिस पंथ में विचरण कर मोक्ष पद को प्राप्त किया, उस ही पंथ में मैं कब विचरूँगा? इस भावना में अनन्त ज्ञानी भगवन्तों के प्रति विनय व्यक्त किया गया है और साधक को अपनी पतित अवस्था

का भी ज्ञान है क्योंकि असीमित सामर्थ्य वाले ज्ञान की पहचान हुई है किन्तु अभी प्रकट नहीं हुआ है ऐसा वह जानता है। यह पुराण पुरुष (सत्पुरुष) की आराधना है, इसमें कितनी निर्मलिनता है। अपने आत्मधर्म का गुण (विकाश) प्रगट हुआ है इसलिये साधक अनन्त ज्ञान का बहुमान करता है, वह परमार्थ का आदर है।

श्रीमद् रायचन्द्र सम्यग्दर्शन को नमस्कार करते हुए कहते हैं कि हे कुन्दकुन्दादि आचार्यों ! आपके वचन, स्वरूप की खोज में इस पामर को परम उपकारक हुए हैं इसलिए मैं आपको अतिशय भक्ति से नमस्कार करता हूँ। हे वीतराग जिन ! आपके अनंतानंत उपकार हैं। यह गुण का बहुमान सत्कार, विनय किया है, उसमें परमार्थ से अपने गुणों का आदर है। श्रीमद् ने एक डेढ़ पंक्ति के चरण में लिखा है कि **श्री कुन्दकुन्दाचार्य आत्मस्वरूप में दृढ़ता से स्थित थे।**

"विचरशुँ कब महत्पुरुष ने पंथ जो" उनमें प्रथम अरिहन्त प्रभु सर्वज्ञ देव हैं वे प्रथम महत्पुरुष हैं तथा दूसरे महत्पुरुष आचार्य साधुवर्य मुनिवर हैं। संसार की जाति पाँति छोड़कर सन्तों मुनिवरों की चैतन्य जाति साधक अवस्था में (आत्मस्थ स्थिति में) रहना ही है। इसलिए साधक धर्मात्मा यही भावना भाता है कि इन महामुनियों के मार्ग में कब विचरूँगा, अनागार मार्ग को कब अपनाऊँगा। इस प्रकार इस पहली गाथा में कहा कि-ऐसा अपूर्व अवसर कब आएगा ?

सर्व भावथी औदासीन्य वृत्ति करी।
मात्र देह ते संयम हेतु जोय जो॥

अन्य कारणे अन्य कशुं कल्पे नहीं ।
देहे पण किंचित् मूर्च्छा नव जोयजो ।अ० ।२।।

पहली गाथा में अपूर्व अवसर की बाह्याभ्यंतर निर्ग्रन्थत्व की ओर सब सम्बन्धों के बन्धन को तोड़ने की भावना भाई । अब आगे बढ़ते हैं ।

"सर्व भाव से उदासीन वृत्ति कर" सर्व भाव का साक्षी सर्वत्र क्रमबद्ध पर्याय का ज्ञाता, पर से उदासीन है । उद्=जगत के सब परभावों से प्रयत्नशील होते हुए ऊँचे भाव में; आसीन=बैठना, यह सत्यार्थ से संसार से अनासक्त दशा है ।

अकेली उदासीनता सुख की सहेली है ।
उदासीनता अध्यात्म की जननी है ।।

यह कथन अठारह वर्षीय श्रीमद् द्वारा किया गया है । उदासीनता अर्थात् मध्यस्थता, समभावदशा है । वह अध्यात्म की जननी है क्योंकि उससे शुद्ध आत्मस्वरूप प्रकट होता है । तीर्थंकर का पुण्य, इन्द्र चक्रवर्ती के पुण्य की ऋद्धि, स्वर्ग का सुख ये सब सांसारिक उपाधि भाव हैं । इस लिए ज्ञानी के सब पर भावों से उदासीनवृत्ति है । जो कुछ पुण्य और पाप (शुभ अशुभ) वृत्ति ज्ञान में दिखाई पड़े तो वह सब मोह की विकारी अवस्था है, उन सब परभावों से ज्ञानी के उपेक्षा वृत्ति है । वह दूसरे से राग द्वेष, सुख दुख नहीं मानता । अपनी निर्बलता में राग होता है किन्तु वह उसका स्वामी नहीं होता ।

ज्ञानी के ज्ञान में संसारभाव (शुभ अशुभभाव) का आदर नहीं है । कोई प्रश्न करे कि मुनि होने से सब कुछ छूट जाता है क्या ?

क्या संसारी भेष में मुनिभाव नहीं आता ? या वस्त्र सहित मुनि नहीं हो सकता क्या ? क्या त्यागी होने से मुनित्व प्रगट हो सकता है ? इन सब प्रश्नों का उत्तर यह है कि—

ध्रुवस्वभावके आलम्बन के बल द्वारा अनन्तानुबन्धी, प्रत्याख्यान, अप्रत्याख्यान, उन तीन जातिके चतुर्कषायों के त्याग होतें राग के सब निमित्त सहज ही छूट जाते हैं, इसलिए मुनि के केवल देह रहती है। सम्यग्ज्ञान सहित नग्न दिगम्बर निर्ग्रन्थ मुनि दशा की यह भावना है। जितना राग छूटे उतना राग का निमित्त छूट जाता है यह नियम है मुनित्व सर्वोत्कृष्ट साधक दशा है। जब सातवां और छठा गुणस्थान बारम्बार बदलता रहता है वहाँ महान पवित्र वीतराग दशा और शांतमुद्रा होती है। आत्मा में अनन्त ज्ञान, वीर्य की शक्ति है। आठ वर्ष के बालक के केवलज्ञान हो जावे और करोड़ वर्ष पूर्व की आयु रहे तब तक शरीर नग्न रहे और महापुण्यवन्त परम औदारिक शरीर बना रहता है ऐसा प्राकृतिक त्रैकालिक नियम है। मुनि अवस्था में मात्र देह के अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं रहता। देह होने पर भी देह प्रति ममत्व नहीं है।

'मात्र देह ते संयम हेतु होय जो' ज्ञानियों के संयम हेतु, देह को देह की स्थिति पर्यंत टिकना है; छद्मस्थ दशा में राग है तब तक शरीर संयम के निर्वाह के लिए नग्न शरीर साधक है किन्तु इसलिए भी शरीर की कुशलता के लिये साधु को ममत्व नहीं होता। यह बात यथास्थान कही गई है, मुनित्व की भावना और मुनि के स्वरूप कैसे हों यह जानना प्रयोजनभूत है। देह को उपचार से संयम का उपकरण

कहा है, आहार की वृत्ति होती है किन्तु वह इन्द्रिय या विषय कषाय के पोषण के लिए नहीं होती लेकिन संयम के लिए होती है। संयम इन्द्रियदमन (अतीन्द्रिय शांति में ठहरते समय) निमित्तरूप होता है, इसका मूल कारण आत्म-स्वभाव की स्थिरता है। सहज स्वाभाविक आत्मज्ञान में ठहरना ही आत्म-स्वभाव की स्थिरता है।

'अन्य कारणे अन्य कशुं कल्पे नहिं' अर्थात् अन्य किसी अपवाद से भी बाह्य वस्त्रादि निमित्त साधु अवस्था में स्वीकार्य नहीं है, यह इसमें बताया है। इसलिए स्वाभाविक (प्राकृतिक) सिद्धान्त से निश्चित हुआ कि जिसकी आत्मा स्वयं सहजरूप में वर्तती है ऐसे साधक के बहिरंग निमित्त मात्र देह होती है किन्तु मुनि के उसका आश्रय नहीं है। पूजा सत्कार के लिए या देह को सुन्दर दिखाने के लिए या अन्य किसी कारणवश भी मुनि अवस्था में वस्त्रादि का ग्रहण नहीं है। जब तक पूर्ण वीतराग स्थिति न प्रगटे तब तक अल्प राग होता है इसलिए निर्दोष आहार लेने की वृत्ति होती है किन्तु उस वृत्ति का स्वामित्व उनके नहीं है। जिनकल्पी या स्थविरकल्पी किसी भी जैन मुनि के वस्त्र नहीं होता।

'देहे पण किंचित् मूर्छा नव जोय जो' ऐसी मुनि दशा में अंशमात्र भी देह में आसक्ति या ममता नहीं होती। कोई कहे केवलज्ञान होने के बाद आहार होवे तो? यह भी झूठी बात है। सातवें गुणस्थान में ध्यान-समाधि दशा है, उसमें आहार की वृत्ति नहीं होती तो उससे ऊँची भूमिका में (७ वें गुणस्थान से आगे के गुणस्थानों में) आहार की वृत्ति कैसे हो? नहीं ही होती। जिन शासन में

(मोक्ष मार्ग में) मुनि के कैसी दशा हो यह यहाँ बताया है। चारित्र भावना (मनोरथ) द्वारा पुरुषार्थ की प्रकटता होने से गृहस्थपना छोड़ कर मुनित्व ग्रहण करने के विकल्प आते हैं। १६ वें, १७ वें १८ वें तीर्थंकर भगवान चक्रवर्ती पदवीधारक थे। वे भी गृहस्थदशा में भगवती जिनदीक्षा की भावना भाते थे और उस भावना के परिणाम स्वरूप संसार छोड़, मुनित्व अंगीकार कर जंगल में नग्न शरीर होकर चल पड़े। जिनकी १६ हजार देव सेवा करते थे और जिनके बत्तीस हजार मुकुटधारी राजा चँवर करते थे ऐसे छः खण्ड के अधिपति भी मुनि होकर जंगल में चले गये। उनके देह की ममता पहले से ही नहीं होती थी, किन्तु चारित्र मोह का राग (इच्छा) रहता है, उसके विकल्प को तोड़कर दिगम्बर अवस्था में ७ वें गुणस्थान (साधक भूमिका) में प्रवेश करते हैं और उस समय उनके चतुर्थ ज्ञान-मनःपर्यय ज्ञान प्रकट होता है। वह स्वरूप के साधन में अपने ही अपरिमित आनन्द स्वभाव को देखता है इसलिए धर्मात्मा की देह पर दृष्टि (ममत्व भाव) सहज ही दूर हो जाती है। वह देह में प्रतिकूलता से दुःख का अनुभव ही नहीं करता।

'यथा जात' जन्म समय जैसा शरीर होता है वैसे ही शरीर की स्थिति मुनि की साधक दशा में होती है। उस साधक दशा में २८ मूलगुण अवश्यमेव निमित्त होते हैं। वह मुनित्व (निर्ग्रन्थ साधक दशा) हो तब उसकी मुद्रा गम्भीर निर्विकारी, वीतराग, शांत, वैराग्यवन्त, निर्दोष होती है। ऐसे गुणों के भण्डार मुनि का शरीर निर्विकारी नग्न बालक की तरह होता है। मुनि आत्म समाधिस्थ परम पवित्र ज्ञान में रमण करते हैं। उनके छठे गुणस्थान में आहार लेने का

विकल्प होता है वहाँ आहार लेने की वृत्ति अवश्य है किन्तु मूर्छा (मोह) या लोलुपता नहीं है। मुनि शरीर के राग के लिये नहीं किंतु संयम के निर्वाह के लिए एक ही समय आहार जल हाथ में लेते हैं। आहार करते समय मुनि को आहार का लक्ष्य नहीं किन्तु पूर्ण कैसे होऊँ? यही लक्ष्य है; निरन्तर जाग्रत दशा है। पूर्णता की स्थिति कब आवेगी? इस भावना में ही शुद्धता का अंश निहित है। जिन आज्ञा और वीतराग दशा का यथार्थ विचार ही यह भावना है, वह शुद्ध भावना का कारण है। यदि कारण में कार्य का अंश न हो तो उसे वीतराग दशा का 'साधक' कारण संज्ञा नहीं मिले। ऐसी उत्कृष्ट साधक दशा हो ऐसा अपूर्व अवसर कब आवेगा? यही उच्च भावना यहाँ की गई है। स्वकाल का अर्थ 'स्वसमय' है। श्री अमृतचन्द्राचार्य ने समयसार ग्रंथ के पहले कलश में 'समय' का अर्थ 'आत्मा' बताया है और उसमें 'सार' जो द्रव्यकर्म भावकर्म नो कर्म रहित शुद्धात्मा है उसे नमस्कार किया है। यहाँ यह भावना की गई है कि पूर्ण शुद्ध अवस्था जल्दी प्रकटे।

श्रीमद् रायचन्द्र सम्यग्दृष्टि और आत्मानुभव करने वाले थे इसलिए यहाँ मुनित्व की भावना भाते हैं। जैसे पूर्ण असंग निरावरण आत्मस्वरूप का लक्ष्य किया है वैसे ही पूर्णता का लक्ष्य 'परमपद प्राप्ति' का उपाय क्या? यह वे विचार करते हैं। पूर्ण 'समयसार' साधने की भावना व्यक्त की है ॥२॥

दर्शन मोह व्यतीत थई उपज्यो बोध जे,
देह भिन्न केवल चैतन्यनुं ज्ञान जो,

तेथी प्रक्षीण चारित्रमोह विलोकिए,
वर्ते एवुं शुद्ध स्वरूपनुं ध्यान जो ॥अपूर्व०॥३॥

आत्मा के अभिप्राय में भ्रान्ति अर्थात् पुण्य पाप रागादि शुभाशुभ परिणाम वृत्ति को अपनी मानना, उसको आदरणीय मानना दर्शनमोह है। आत्मा अपने को भूलरूप मानता है इसलिए पर का कर्त्ता भोक्ता हूँ यह कल्पना करता है। निश्चय से आत्मतत्त्व सदा असंग है, उसका अबंध स्वभाव है वह पर के बन्धनरहित है। वस्तु स्वभाव ऐसा होते हुये भी ऐसा न मानते हुए मेरे में जड़कर्म के निमित्त का बन्धन है, मैं पुण्यादि युक्त हूँ, राग हितकर है, शुभ परिणाम मेरा कर्त्तव्य है इस प्रकार परभाव में एकत्वबुद्धि होना दर्शन मोह है। एक आत्मतत्त्व को अन्य तत्त्व के साथ एकरूपवाला, उपाधिवाला, बन्धवाला मानना दर्शन मोह है।

आत्मा स्वाधीन ज्ञायक वस्तु है, वह कभी स्वभावसे भूल रूप नहीं होता। मोहकर्म की एक जड़ प्रकृति का नाम दर्शनमोह है वह तो निमित्तमात्र है। जीव अज्ञान अवस्था में रहे तब तक अपने को अन्यथा मानता है पर से भला मानता है किन्तु वह कभी किसी प्रकार से पर का कर्त्ता भोक्ता नहीं हो सकता। भूल दूर हो सकती है क्योंकि भूल उसका मूल स्वभाव नहीं है किन्तु पर्याय है। भूल होने में उपाधि रूप निमित्त कारण अन्य होना चाहिये इसलिए विकारी अवस्था में पर निमित्त होता है। निमित्त तो पर वस्तु है ऐसी यथार्थता से परवस्तु की अवस्था का भेदज्ञान नहीं होने के कारण वह पर से अपने को अच्छा बुरा मानता है, अपने को पररूप और पर को अपने रूप में

मानता है, स्वयं रागी, द्वेषी, मोही बनता है उनका निमित्त पाकर नये रजकण बँधते हैं किन्तु जिस समय जीव ज्ञान भाव द्वारा अज्ञान अवस्था का अभाव करता है उस समय दर्शन मोह नष्ट हुआ और ज्ञान प्राप्त हुआ ऐसा कहा जाता है। पर को स्वरूप मानने में यह दर्शन-मोह कर्म निमित्तरूप है उसका नाश किया है ऐसा यहाँ कहा है।

शक्तिरूप में जीव का स्वभाव शुद्ध है अभी तो शुद्ध पर्याय का अंश ही प्रकट हुआ है उसको पूर्ण करने की भावना है। जैसा सर्वज्ञ भगवान ने जाना है वैसा ही आत्मा है ऐसा यथार्थज्ञान उत्पन्न हुआ है। ज्ञान उत्पन्न होगा, ऐसी दीर्घकालीन आशा नहीं है। आत्मज्ञान प्रकट हुआ है वह क्या है यह बतलाते हैं।

'देह भिन्न केवल चैतन्यनुं ज्ञान जो' आठ कर्मों के रजकण द्रव्यकर्म, नोकर्म और भाव कर्म से भिन्न, केवल आत्मा शुद्ध है। जैसे नारियल में गिरी का गोला भिन्न जाना जाता है वैसे ही स्पष्ट, प्रत्यक्ष, ज्ञान में चिद्घन आत्मा निःसन्देह रूप से भिन्न जानी जाती है। आत्मा पर से सर्वथा भिन्न निराला है ऐसा केवल शुद्ध आत्मा के स्वरूप का यथार्थ ज्ञान साधक अवस्था में वर्तता है। ऐसा भान है वह सम्यक्-दर्शन है, वह चौथी भूमिका (चौथा गुणस्थान) है। जितने अंश में जिनदशा (वीतरागता) प्रकट है उसे जैनदर्शन की इकाई कहा है।

जैसे सम्यग् अभिप्राय का भान हुआ उसके साथ असंगता का पुरुषार्थ भी होगा ही! कभी हीनादिक रूप से हो किन्तु उसकी अब स्वसन्मुख ही परिणति होती है। केवल चैतन्य का भान है उसमें एक परमाणु मात्र का सम्बन्ध नहीं है पर निमित्त की तरफ की रुचि

से होने वाला विकार नहीं है। उसके अभिप्राय में ऐसी निःशंक श्रद्धा है कि पूर्ण मुक्त परमात्मा समान अकेला आत्मा भिन्न है, बन्ध या उपाधि आत्मा का स्वभाव नहीं है, ऐसा होते हुए भी आत्मा को दयावान, पुण्यवान, पर का कर्त्ता, भोक्ता तथा शुभाशुभ बन्धयुक्त मानना मिथ्यादर्शन-शल्य है। कोई परमार्थ तत्व से रहित होकर स्वच्छन्द आचरण करे उसकी यहाँ चर्चा नहीं है। ज्ञानी को तो प्रत्यक्ष अनुभव स्वरूप सम्यक्ज्ञान प्रमाण है, इसलिए सहज एकरूप अवस्था (पर से भिन्न) आत्मस्वरूप में अभेद है ऐसा लक्ष्य उसे निरन्तर रहता है।

'आत्मा का एक भी गुण परमाणु में नहीं मिलता, उसी प्रकार चेतनगुण में निमित्त का प्रवेश नहीं है।' अनुभवदशा के ज्ञान द्वारा पुरुषार्थ की जागृतियुक्त ज्ञानी ऐसा कहते हैं। स्वरूप की पूर्ण स्थिरता हो जाय तो ऐसी उत्कृष्ट साधक स्वभाव की भावना भाने की आवश्यकता नहीं रहे। किन्तु चारित्र गुण अपूर्ण है इसलिए चारित्र-मोह कर्म के उदय में थोड़ा जुड़ना होता है वह विघ्न है ऐसा जानता है। जितने अंशों में कर्म की तरफ अपने को प्रवृत्त करे उतने अंशों में विघ्नरूप बाधक भाव है।

"तेथी प्रक्षीण मोह चारित्र मोह विलोकिए" इस पंक्ति में श्रीमद् ने कहा है कि चारित्रमोह विशेष रूप से क्षीण होता जाता है उसे देखिये। सम्यक् बोध द्वारा शुद्ध स्वरूप का ज्ञान होने से साधक स्वभाव प्रकटता है किन्तु उसमें अस्थिरता कितनी दूर हुई और कितनी है यह निश्चित कर स्थिरता द्वारा चारित्र मोह को क्षय करने के लिए पुरुषार्थ बढ़ाता है और ज्ञान की स्थिरता बढ़ने से चारित्रमोह विशेष रूप से क्षीण होता जाता है ऐसी दृढ़ता स्वानुभव में होती है इसका

नाम 'विलोकना' है। आत्मा के भान होने के पश्चात् चारित्रमोह 'प्रक्षीण' अर्थात् विशेष रीति से क्षय होता जाता है। यहाँ उपशम का प्रकरण नहीं है। जो अप्रतिहत, धाराप्रवाही ज्ञानबल की जागृति से आगे बढ़े उसके उपशम नहीं किन्तु क्षय करने का बल रहता है। अग्नि की राख से ढके उस प्रकार के उपशम की यहाँ चर्चा नहीं है किन्तु पानी से उसे बुझादे ऐसे चारित्रमोह के क्षय की भावना यहाँ की गई है। आत्मा ज्ञानमूर्ति पवित्र शुद्ध है, उसके भान में रहकर सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रस्वरूप मोक्षमार्ग में प्रकट अवस्था में स्थिरता बढ़ाऊँ, रागद्वेष का नाश होता हुआ देखूं, और मेरे स्वरूप का विकास होने से विशेष निर्मल अवस्था देखूं ऐसा इस पंक्ति में कहा है। राग, द्वेष, हर्ष, शोक, रति, अरति इत्यादि चारित्रमोह की अवस्था घटती जाती है।

'वर्ते एवूं शुद्ध स्वरूपनुं ध्यान जो' इसका अर्थ यह है कि परमाणु मात्र से मेरा सम्बन्ध नहीं है इसलिए राग, द्वेष, पुण्यादि; अस्थिरता का भी सम्बन्ध ज्ञान में नहीं है ऐसा मैं शुद्धज्ञानघन हूँ। निर्धूम अग्नि का अंगारा केवल अग्निमय ही प्रज्वलित रहता है ऐसी चैतन्य ज्योति है उसे पहिचानकर देखकर ज्ञानदशा में स्थिर एकाग्रपणे (ज्ञान में ही) ज्ञाता बने रहे तो क्रमशः सब कर्म उदय होकर क्षय हो जावेंगे। और द्रव्य स्वभाव में पूर्ण, शुद्ध, पवित्र, निर्मल रूप जैसा आत्मा है वैसा ही अवस्था (पर्याय में) निर्मल शुद्ध हो जाता है। केवलज्ञान में उत्कृष्ट पर्याय शुद्धतारूप परिणमती है ऐसा परमात्म स्वभाव प्रकट हो जाय ऐसा अपूर्व अवसर कब आवेगा? अर्थात् स्वसमय स्थिति कब आवे यही भावना यहाँ की गई है।

आत्म स्थिरता त्रण संक्षिप्त योगनी,
मुख्यपणे तो वर्ते देह पर्यंत जो,
घोर परिषह के उपसर्गभये करी,
आवी शके नहीं ते स्थिरतानो अंत जो ।अपूर्व०।४।

इस पद में श्रीमद् ने ज्ञान सहित पुरुषार्थ की धारा व्यक्त की है। और ये २१ पद अविराम एक साथ लिखे गए हैं, इस ज्ञानस्वरूप की एकाग्रता और उस समय की विरल दशा कैसी होगी ? अपूर्व साधन का संस्कार कैसे होगा ! इस प्रकार की परम आश्चर्यकारी सद्-विचार श्रेणी होवे तब कैसे परमार्थरूप काम कर सकता है, ऐसे गंभीर न्याय का विचार करो। क्या ऐसी अपूर्व बात किसी अन्य के पास से ला सकते हो ? जिनकी बुद्धि मताग्रह से मोहित है उनको सत्य की प्राप्ति नहीं होती। लोग मध्यस्थभाव से तो विचार नहीं करते और केवल निंदा करते हैं कि श्रीमद् ने अपने आपको पुजाने के लिए इस काव्य को लिखा है, किन्तु ऐसा कहने वाले अपनी आत्मा में भयंकर अशाता करते हैं। उनका गृहस्थ वेष देखकर विकल्प में नहीं पड़ना चाहिए, ऐसी अपूर्व भावना की वाणी का अपूर्व योग कोई लावे तो ? तोता रटंत से यह संभव नहीं है। जिसके सहज पुरुषार्थ की धारा प्रकट हो उसको कोई नहीं कहता कि तुम इस समय अपूर्व अवसर को अन्तर्गत भावना का काव्य लिखो किन्तु जिसके जिनदीक्षा (भगवती दीक्षा) का बहुमान हो उसकी आत्मा अन्तरंग से ध्वनि करती हुई स्थिरतारूप पुरुषार्थ की माँग करती है। वह निवृत्ति, वैराग्य प्रवृत्ति धारण करने का पुरुषार्थ होता है कि सर्व संगविमुक्त, जैसा हूँ वैसा बनूं। श्रीमद् ने इस प्रकार मुनित्व की भावना की थी।

यह घरमें हैं या वनमें? यह प्रश्न ही नहीं है. पूर्ण स्थिरताकी
दृष्टि पुकारती है कि अब मैं कैसे पूर्ण होऊं? वर्तमान काल में केवली
भगवान का इस क्षेत्र में अभाव है यह विरह दूर होकर पूर्ण स्वरूपकी
प्राप्ति का अपूर्व अवसर कैसे आवे यह भावना की है। कोई कहे कि
श्रीमद् व्यापार करते थे, धन संग्रह करते थे; किन्तु हे भाई! बाह्यदृष्टि
द्वारा इन पवित्र धर्मात्मा के हृदय को परखना कठिन है क्योंकि वे
गृहस्थ वेष में थे। साधारण जीवों को अन्तर की उज्ज्वलता देखना
बहुत कठिन पड़ता है। समाज में स्वच्छंदता आदि का जोर था उनको
सत्य बात कौन कहे? उनके अन्तर में सर्वज्ञ ज्ञानी का मोक्षमार्ग था
किन्तु वे तत्कालीन समाज को देखकर अधिक प्रकट में नहीं आए;
लोगों का पुण्य ऐसा कैसे होता? काल की बलिहारी है। उस समय
लोग इस प्रकार की बात सुनने को तैयार नहीं थे। उस काल की
अपेक्षा यह काल अच्छा है क्योंकि हजारों भाई और बहनें प्रेम से इस
वार्ता को सुनते हैं। परीक्षा पूर्वक अपनी पात्रता से सत्य समझें, ऐसे
बहुत से व्यक्ति तैयार हुए हैं।

वर्तमान में पंचमहाविदेह क्षेत्र में साक्षात् सर्वज्ञ प्रभु तीर्थंकर
भगवान विराजमान हैं, वहाँ सनातन दिगम्बर वीतराग शासन विद्य-
मान है। हजारों लाखों सन्त मुनियों के संघ हैं। यह क्षेत्र, काल और
वहाँ होने वाले धन्य हैं; यह विरह किसको कहे। श्रीमद् ने ऐसे महत्-
पुण्य सर्वज्ञ भगवान के विरह को जानकर ऐसी भावना की थी। किसी
ने कहा भी है कि, भरतक्षेत्र मानवपणो रे लाध्यो दुःषमकाल, जिन
पूर्वधर विरहयों रे, दुल्लहो साधन चालो रे, चन्द्रानन जिन सांभ-
लोने अरदास।"

हे नाथ! हे भगवान! इस भरत क्षेत्र और पंचम काल में आपका विरह हुआ, पूर्वधारी और श्रुत केवलियों का भी इस समय विरह है, इस विरह में कर्म सम्बन्ध को दूर करने के लिए यह भावना की गई है, साधक निश्चय से अपना चन्द्रानन भगवान को विनती कर अपने भाव को मिलाता है, उस समय मन सम्बन्धी राग का जो अंश है उसमें मंद कषाय की रुचि नहीं होने से लोकोत्तर पुण्य सहज ही बँध जाता है। किन्तु उसको प्रारम्भ से ही अस्वीकारता है, उस पुण्य के फलमें इन्द्रपद, चक्रवर्तीपद भी सहज ही मिल जाते हैं। भविष्य में तीर्थंकर भगवान के चरण कमलों में जाकर निर्ग्रंथ मार्गका आराधन करने के लिए मुनित्व अंगीकार कर मोक्षदशा प्रकट करने की यह भावना है। इस कालमें वीतराग सर्वज्ञ का योग नहीं है किंतु सर्वज्ञ शासन का (वीतराग धर्म-आत्मधर्म का) यह निर्ग्रन्थ मार्ग अनादि सत्पथ है वह सनातन है और रहेगा, ऐसी भावना, पूर्ण शुद्धात्मा की प्रतीति लक्ष और स्वानुभव सहित है। पूर्ण साध्यकी प्राप्ति, के लिए नग्न मुनिदशा सहित निश्चय चारित्र अंगीकार करना चाहिए।

कोई कहे गृहस्थ वेष में केवल ज्ञान और मुनित्व प्रकट होने में क्या बाधा है? उत्तर-यह बात असत्य है क्योंकि बाह्याभ्यंतर निर्ग्रंथ दशा प्रकट होने से, अभ्यंतर पुरुषार्थ से तीनों कषायों का नाश होने से बाह्य निमित्त (परिग्रह) का त्याग सहज ही होता है। गृहस्थावास में कषाय का सर्वथा त्याग नहीं हो सकता इसलिए सच्चा मुनित्व होना चाहिए और वह नग्न-वस्त्ररहित के ही होता है।

तीसरी गाथामें, दर्शनमोह दूर होने पर देहादि से भिन्न केवल चैतन्य का ज्ञान होता है, ऐसा कहा है और ज्ञानी के, शुद्धात्म बोध सहित ज्ञानकी एकाग्रता द्वारा हास्य, शोक, रागादि, अस्थिरता और चारित्र मोह कर्म का उदय का अभाव होता है। ऐसा होने पर सातवाँ गुणस्थान होता है। ध्याता, ध्यान, ध्येय का विकल्प छूटकर ज्ञान समाधिरूप दशा, ध्यान की स्थिरता रूप सातवीं भूमिका (मुनित्व) कैसे प्रकटे यहाँ यह भावना की गई है। आत्मस्थिरता अर्थात् तन, मन, वचन की आलम्बन रहित स्वरूप मुख्यरूप से हो, उसमें विराम न हो ऐसी स्थिरता, देह का अंत आवे तब तक रहे यह भावना की गई है। जहाँ सातवाँ गुणस्थान मुख्यरूप से कहा है, वहाँ बुद्धि पूर्वक विकल्प नहीं है इसलिए निर्विकल्प दशा है, मुनि अवस्था में छठे गुणस्थान में बुद्धि पूर्वक तन, मन और वचन का शुभयोग, पंचमहाव्रत के शुभ विकल्पादि रहते हैं, किन्तु मुख्यरूप से अन्तर रमणता रहे, आत्मबल के द्वारा स्वरूप के लक्षमें रहने की ऐसी भावना बारबार होती है।

"घोर परिषह या उपसर्ग भये करी" आत्मस्थिरता शुभाशुभ के विकल्प रहित होती है। शुद्ध स्वभाव में एकाग्रता इस प्रकार की हो कि बाईस घोर परिषह आजावे तो भी उनके प्रति अरति खेद न हो। चाहे घोर परिषह आवे किन्तु मेरी स्थिरता को कोई संयोग नहीं डिगा सकता, छह छह महिने तक आहार पानी न मिले, सख्त सर्दी हो तो भी उसका विकल्प नहीं आवे, आज बरफ गिरा इसलिए विहार न करूँ ऐसा विकल्प नहीं आवे। भयंकर ताप होते हुए भी यह भय न हो कि मुझे इससे दुःख होगा। यदि बाहर से सूर्य प्रखर हो और

ाप भीषण हो तो मुनि के उग्र पुरुषार्थ प्रकट होकर स्थिरता जल्दी
ढ़ती है, उग्र साता-असाता के निमित्त आवे किन्तु मेरी आत्मस्थिरता
ा अन्त न आवे। इस प्रकार मेरी निश्चल स्वरूप समाधि साधक
शा जयवन्त–जयनशील वर्तती रहे, जिन पुरुषों ने विरुद्ध प्रसंगों में
नेश्चलदशा द्वारा परम आश्चर्यकारी संयम समाधि धारण की है वे
न्य हैं। चाहे उतने प्रतिकूल संयोग हों किन्तु ज्ञानी उनको बाधक
हीं मानता।

उपसर्ग चार प्रकार के हैं देव अथवा व्यंतरकृत, तिर्यञ्चकृत,
नुष्यकृत और अचेतनकृत। कमठ ने श्री पार्श्वनाथ भगवान की
ुनि दशा में उपसर्ग किया और श्री महावीर भगवान की मुनिदशा में
भी उपसर्ग हुये थे किन्तु उनके क्षोभ नहीं हुआ। इसी प्रकार प्रत्येक
र्मात्मा मुनि आत्म-स्थिरता में अडोल रहते हैं। घाणी में पेले जाने
र भी उन्हें स्वरूप की स्थिरता छोड़ने का विकल्प नहीं आता। मैंने
हुत सहन किया ऐसा विकल्प भी नहीं आता, और जो ऐसा समझे
कि मैंने बहुत सहन किया उसको अपने सामर्थ्य का ज्ञान नहीं है।
ोग अध्ययन, श्रवण, मनन नहीं करते और निवृत्ति लेकर भी ऐसी
अपूर्व भावना नहीं करते। श्रीमद् यहाँ स्वरूप की स्थिरता का चिंतन
करते हैं, वे अपने भाव व्यक्त करते हैं। उनके एक एक शब्द में
अपूर्वता है, मंगलमें ही अपूर्वता है, वे अपूर्वसाधक दशा (मुनि पर्याय)
कट होने की भावना भाते हैं।

संयमना हेतुथी योगप्रवर्त्तना,
स्वरूपलक्षे जिनआज्ञा आधीन जो;

ते पण क्षण क्षण घटती जाती स्थितिमां,
अंते थाए निजस्वरूपमां लीन जो ।अपूर्व०।५।

उक्त पद में की गई भावना का अर्थ यह है कि शुभाशुभ भाव को टालने के लिये मुनि अवस्था में स्वरूप की स्थिरता रूप उपयोग होता है किन्तु जो उस स्वरूप में निर्विकल्प रूप से स्थिर नहीं रह सके तब वह शुभोपयोग में (छठे गुणस्थानक) में आता है। जब शास्त्र श्रवण, शिष्य को उपदेश, देव, शास्त्र गुरु की भक्ति, आहार विहारादि के शुभ भाव होते हैं तो वे भी संयम के हेतु रूप में ही प्रवर्तते हैं। शरीर आदि पर द्रव्यों की जो क्रिया होती है वे उसमें अपना कर्तृत्व नहीं मानते और शुभ भाव को हेय मानते हैं। मैं ज्ञाता, दृष्टा, असंग हूँ ऐसी दृष्टि को बनाये रखने का पुरुषार्थ उस समय भी चालू रहता है। इसलिए वह शुभोपयोग रूप प्रवृत्ति वीतराग भगवान की आज्ञानुसार है।

मैं पूर्ण अवस्था में नहीं पहुँचा इसलिए जिन भगवान की आज्ञा का आराधन करने में मेरी प्रवृत्ति होती है क्योंकि वीतराग चारित्रदशा में निर्दोषतया प्रवर्तन करने का मेरा भाव है, यह भगवती पूज्य दिव्य जिनदीक्षा का बहुमान है। 'नमो लोए सव्वसाहूणं' अर्थात् सम्यग्दर्शन ज्ञान-चारित्र स्वरूप आत्मा में एकत्व रूप से रमण करने वाले साधु वंदनीय हैं। अनन्त ज्ञानी भगवन्तों द्वारा प्ररूपित लोकोत्तर मार्ग (मोक्षमार्ग) में जो प्रवृत्ति करते हैं उनका बहुमान करने का भाव साधक को आये बिना नहीं रहता।

साधक सातवीं भूमिका (गुणस्थान) में आराध्य आराधक,

तथा मैं मुनि हूँ आदि के भाव तथा व्रतादि के शुभ परिणामों का विकल्प छोड़कर स्वसंवेदन में स्थिर हो जाता है, वहाँ वंद्य-वंदक भाव नहीं होता। सर्वज्ञ भगवान कहते हैं कि छठे गुणस्थान में मुनित्व के आचार नियम तथा षट् आवश्यक आदि क्रिया का शुभ विकल्प अकषाय के लक्षमें रहता है। देखो! कैसी भावना! भावना करते हुये वीतराग ज्ञानी के प्रति कितनी भक्ति रहती है और कहते हैं कि हे नाथ! मैं जिनेन्द्र भगवानके धर्मकी श्रद्धा करता हूँ उसकी रुचि करता हूँ, उसे अन्तर में जानता हूँ अनुभवता हूँ और उसकी आराधना करता हूँ। जिनाज्ञा के विचारों द्वारा मेरा साधक स्वभाव कैसे बढ़े यह भावना है। पूर्ण यथाख्यात चारित्र ही एक उपादेय है। शुभाशुभ योग की प्रवृत्ति मेरा स्वभाव नहीं है। उनसे हित नहीं होता ऐसा भान होते हुए भी शुभयोग हुये बिना नहीं रहता। नीचे की भूमिकायें (गुणस्थान में) पुरुषार्थ करते हुये शुभयोग भी निमित्त रूप में साथ रहता है।

'स्वरूप लक्षे जिन आज्ञा आधीन जो' यह गुण प्रकट करने की बात है। जितने अंशों में जिनाज्ञा, विचार आदि का मानसिक आलम्बन छूटे उतने अंशों में स्वरूप की स्थिरता सहज ही बढ़ती जाती है और तदनुरूप आज्ञा आदि के आलम्बन का विकल्प छूटता जाता है।

'ते पण क्षण क्षण घटती जाती स्थितिमाँ" जैसें ज्ञान में अंतरंग स्थिरता बढ़ती जावे वैसे निमित्त के विकल्प छूट जाते हैं। भगवान क्या कहते हैं, इत्यादि आज्ञा का आलम्बन सातवें गुणस्थान

में सहज ही छूट जाता है क्षण क्षण मन के विकल्पात्मक परिणामों का घटना और अंतरंग में स्थिरता, स्वरूप रमणता का बढ़ना होता है। देखो ! श्रीमद् रायचन्द्र ने गृहस्थाश्रम में शैय्या पर बैठकर कैसी भावना भाई है, इस प्रकार का सैद्धान्तिक कथन कोई करे तो ?

"अंते थाये निजस्वरूप माँ लीन जो" प्रभु क्या कहते हैं ऐसे विकल्प का आलम्बन भी छूट जाता है और मात्र ज्ञानस्वरूप समाधि में स्थिरता रहे ऐसा अपूर्व अवसर कब आवेगा यह भावना यहाँ की गई है। ऐसे आत्मस्वरूप की स्वकाल दशा; निर्ग्रंथ वीतराग स्थिति धारक मुनिपद इस देह में प्राप्त हो, ऐसा अपूर्व अवसर (शुद्ध पर्याय की निर्मलता, स्थिरता) कब आयेगा ? ऐसी चैतन्य की शक्तिमें से ही भावना भानी चाहिये। अपने शुद्ध स्वरूप की भावना करने वाले कालक्षेत्र की प्रतीक्षा नहीं करते। अपने शुद्ध स्वरूप को देखता है "पूर्णता के लक्ष्य से प्रारम्भ" यहाँ पूर्ण पर दृष्टि है। जिसको जिसका मतलब हो उसके उसका वायदा नहीं होता। जिसमें उत्कृष्ट रुचि हो उसमें क्षणमात्र का विलम्ब भी नहीं सहा जाता। आत्मा का स्वभाव आनन्द स्वरूप है इसलिए आनन्द की लहर-हिलोर आवे, उसमें अकेला आत्मा ही चिन्तन में आ रहा है।

आत्मस्थिरता और उसका पुरुषार्थ अपने स्वयं के अधीन है। किन्तु मन, वचन और काय का योग स्थिर रहे या चलायमान हो, यह उदयाधीन है। उन योगों का प्रवर्तन सर्वथा घट कर अयोगीपना तो चौदहवें गुणस्थान में होता है। सातवें गुणस्थान में अप्रमत्त दशा में

'मैं दृष्टा हूँ' आदि सब विकल्प छूट कर आत्मस्वरूप में स्थिरता रहती है, उसमें बुद्धिपूर्वक किसी प्रकार का विकल्प का प्रवेश नहीं है। उसमें होने वाले अति सूक्ष्म विकल्प केवल ज्ञान गम्य हैं, साधक को तो उन विकल्पों का लक्ष्य नहीं है। 'अपूर्व अवसर' काव्य में १२ वीं पंक्ति तक सातवें गुणस्थानक पर्यन्त की भावना समझनी चाहिये। अवसर का अर्थ है—उन उन भावों की स्थिरता की अवस्था, एकाग्रता। यहाँ मुख्य रूप से मुनित्त्व की निर्ग्रंथ दशा के अवसर को बताया है।

पंच विषयमाँ रागद्वेष विरहितता,
पंच प्रमादे न मले मननो क्षोभ जो;
द्रव्य क्षेत्र ने काल भाव प्रतिबंधवण,
विचरवुं उदयाधीन पण वीतलोभ जो ।६।

यह भावना धन्य है। यह अपूर्व साधक स्वभाव की निर्ग्रंथ दशा धन्य है। एक दिन यह भावना पढ़ी जारही थी तब एक मताग्रही बोला 'श्रीमद् ऐसी भावना भाते हुये भी साधु क्यों नहीं बने ? अरे! कैसी अधम मनोदशा है। पंचमकाल की बलिहारी है। निंदा करने वाले को इतना भी ज्ञान नहीं है कि यह तो भावना है। सम्यक्दर्शन होने के साथ मुनित्त्व आवे यह नियम नहीं है। मुनित्त्व किसी हठ से नहीं होता। यह तो लोकोत्तर परमार्थ मार्ग है, अपूर्व साधक दशा की भावना है। जितना पुरुषार्थ हो उतना ही कार्य सहज हुआ। कोई मानता है कि बाह्य त्याग किया इसलिये हम साधु हैं किन्तु यह कोई नाटक अभिनय करना नहीं है। यह तो अपूर्व वीतराग चारित्र की

बात है। रागद्वेष, कषाय की तीन चौकड़ियों के अभाव होने से मुनित्त्व प्रकटता है और तब सहज ही बाह्य निमित्त वस्त्रादि छूट जाते हैं यह नियम है। हठ से कुछ भी नहीं होता, भावना करे और तुरन्त ही फल दिखाई पड़े ऐसा कोई नियम नहीं है। किन्तु भावना करने वाले को पूर्ण विश्वास है कि अब संसार में एक से ज्यादा भव नहीं है। ऐसे पवित्र धर्मात्मा द्वारा की गई भावना का विरोध करने वाले जीव भी थे। 'उसकी प्रशंसा करनी हो तो हमारे मकान में मत आवो' ऐसा कहने वाले भी थे। उस समय की अपेक्षा वर्तमान काल अच्छा है कि जिससे कई स्थानों पर उनकी (श्रीमद् की) महिमा के गीत गाए जाते हैं। ज्ञान और ज्ञानी की विराधना करने वाले जीवों को सच्ची हित की बात अच्छी नहीं लगती। जैसे सन्निपात के रोगी को मीठा दूध हानि करता है उसी प्रकार संसार में विपरीत मान्यता वाले परम हित का उपदेश सुनते हुए भी सत् का अनादर करते हैं। वे अपने को महान समझते हैं और दूसरों को तुच्छ। विषय कषाय क्या है, उन्हें कैसे टाले यह सब कुछ वह समझता नहीं। उन्हें जिनाज्ञा का ज्ञान नहीं है और घर छोड़कर वेषधारी होकर त्यागी बनने का अभिमान करते हैं। वीतरागी की आज्ञा के नाम पर अनन्तज्ञानी की और अपनी अवज्ञा करते हैं। अवज्ञा कैसे होती है, यह उनके ज्ञान में नहीं है उन्हें कौन समझावे ? ऐसे व्यवहारमूढ़ जीव बहुत देखे। श्रीमद् ने आत्मसिद्धि में कहा है :—

"लह्युं स्वरूप न वृत्तिनुं, ग्रह्युं व्रत अभिमान।
ग्रहे नहि परमार्थ ने लेवा लौकिक मान॥

सम्यग्दर्शन क्या है? इसका उन जीवों को ज्ञान नहीं है और मात्र शुभभाव को (मंद कषाय को) धर्म मानते हैं, संवर मानते हैं, निर्जरा मानते हैं। दया, दान के शुभ राग को आस्रव न मानते हुए भी उस राग से संसार का टूटना, कम होना मानते हैं, किन्तु वास्तव में शुभ परिणाम रखे तो पुण्य है, धर्म नहीं है। हम व्रतधारी हैं, त्यागी हैं, ऐसे अभिमान करने वाले के तो मंद कषाय भी नहीं है, तो संवर, निर्जरा कैसे हो? नहीं ही हो। जिसने ज्ञानी को पहचाना है उसे मध्यस्थता एवं आदर सहित उसका समागम करना चाहिये। उसकी बात पर मध्यस्थतापूर्वक विचार करके मतार्थ, मानार्थ स्वच्छन्द आदि दोषोंको दूर कर अतीन्द्रिय आत्मधर्मका निर्णय करना चाहिये।

"पंच विषयमां रागद्वेष विरहितता" पांच इन्द्रियों के विषय, निन्दा-प्रशंसा के शब्द, सुन्दर असुन्दर रूप, खट्टा मीठा रस, सुगन्ध दुर्गन्ध रूप गंध, कोमल-कर्कश आदि स्पर्श इन सब में रागद्वेष नहीं होना चाहिए और विशेषतः उनकी उपेक्षा रखनी चाहिए। जैसे हाथी के मोटे चमड़े पर कंकरी का स्पर्श होते हुए भी उसका कोई लक्ष्य नहीं होता उसी प्रकार स्वरूप स्थिरता के रमण में बाह्य लक्ष नहीं होता। ज्ञातास्वरूप के पूर्ण ध्येय के आगे विषय कषाय की वृत्ति (विकल्प) भी नहीं होती। चाहे उनके अनुकूल प्रतिकूल पुद्गल रचना [illegible] गंध, रस, रूप के ढेर के ढेर पड़े हुए हों किन्तु उन[illegible] लक्ष्य भी नहीं होता।

"पंच प्रमादे न मले मननो क्षोभ [illegible] की अर्थात् स्वरूप में असावधानी न हो जा[illegible] से

विकथा, कपाय, विषय, निद्रा और स्नेह। अपने स्वरूप के महत्त्व से जो परिचित है उसे पर वस्तु के क्षणिक संयोग की ममता कैसे हो? जैसे चक्रवर्ती के चौसठ सेर वाले अति मूल्यवान कई हार होते हैं, उसे भील चिरमी का हार भेंट कर जाय तो उसके प्रति ममता कैसे होगी? उसी प्रकार ज्ञानी धर्मात्मा को विषय कषाय से क्षोभ नहीं होता। ज्ञान स्वरूप की स्थिरता में किसी भी प्रकार से संयोग वियोग में क्षोभ या अस्थिरता नहीं होते। इसलिए स्वसन्मुख ज्ञातापणे में ही सावधान रहूँ।

विकथा-आत्मा की धर्म कथा भूलकर पर कथा पढ़े, ऐसी साधु की वृत्ति कभी नहीं होती। संसार की निंदा का रस विकथा है, यह ज्ञानी के नहीं होता। जिसे मोक्ष की पूर्ण पवित्रता का प्रेम है वह संसार के विपय, कषाय, निंदा आदि करने का भाव कैसे करे? नहीं ही करे।

मुनि अवस्था में पांच प्रकार के विषयों तथा क्रोध मान, माया और लोभ की तीन चौकड़ियों का अभाव होता है। आत्मस्वरूप में अनुत्साह प्रमाद है। आत्म स्वरूप में उत्साह अथवा स्वरूप में सावधानी का नाम अप्रमाद है। ऐसी सर्वोत्कृष्ट साधक दशा (सर्व काल स्वरूपाचरण) रहे, ऐसी शुद्ध अवस्था की एकाग्रता जल्दी हो ऐसी यहाँ भावना की गई है।

'द्रव्य क्षेत्र ने काल भाव प्रतिबन्धवण' (१) द्रव्य प्रतिबन्ध अभाव-ज्ञानी कोई पर वस्तु विना न चले, उसमें अटकना पड़े, ऐसा नहीं होता है। ज्ञानी सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र के अतिरिक्त और कुछ

नहीं चाहते (२) क्षेत्र प्रतिबन्ध का अभाव—हवा, जल, अनुकूलता अमुक क्षेत्र में अच्छे हैं इसलिए वहाँ ठहरूँ यह होता नहीं। (३) काल प्रतिबन्ध रहितता:-शीत ऋतु में अमुक क्षेत्र मेरे अनुकूल है, गर्मी में अमुक् स्थान पर जाऊं ऐसा काल का प्रतिबन्ध नहीं होता। (४) भाव प्रतिबन्ध अभाव:-किसी भी प्रकार से एकान्त पक्ष का आग्रह न हो, इस स्थान पर मुझे मानने वाले बहुत हैं अथवा इस स्थान पर अधिक मनुष्य हैं, उनकी भक्ति अच्छी है इसलिए वहाँ रहूँ या बहुत भक्ति भाव से आग्रह करते हैं इसलिए ठहरूँ ऐसा भाव (इच्छा) नहीं होता। ऐसे चार प्रकार के प्रतिबन्धों से रहित अप्रतिबन्धतया मोक्षमार्ग में अप्रतिहत भाव से कब विचरूँगा, ऐसी भावना यहाँ की गई है।

"विचरवुं उदयाधीन पण वीत लोभ जो" विहार स्थलों में लोभ कषाय रहित संयम हेतु से उदयाधीन, प्रकृति का योगानुसार शरीरादि का कार्य होता है। उदयाधीन अर्थात् पूर्वप्रकृति का उदय आवे उसको विवेक सहित जाने कि यह मेरा कर्तव्य नहीं है और उनमें ममत्व-राग न करे। अपने ज्ञान भाव से प्रकृति के उदय को जाने और ज्ञान में ज्ञानरूप से सावधान रहे किन्तु उसमें कोई इच्छा विकल्प या ममत्त्व नहीं करे। वहाँ अपूर्व वीतराग दशा के लिये निर्ग्रन्थ मुनि अप्रतिहत दर्शन-ज्ञान चारित्ररूप मोक्षमार्ग में रहे, आत्मा की ऐसी अपूर्व स्थिरता उत्कृष्ट साधक दशा कब आवेगी ? ऐसी भावना भाई है।

"सर्व संबंधनुं बन्धन तीक्ष्ण छेदीने"-ज्ञान और उदय की सूक्ष्म संधि की प्रज्ञा द्वारा स्थिरता से छेद कर अकषाय के लक्ष से

विचरने की भावना प्रकट की है और इसलिए कहा है कि "विचरशुं कव महत् पुरुष के पंथ जो" कोई जिनेश्वर महान पुरुष मिले या मुनिवर सत्पुरुषों का संयोग मिले तो उनके पद चिह्नों का मार्ग का अनुसरण करूँ, ऐसा अपूर्व अवसर कब आवेगा? बाह्य और अभ्यन्तर कर्म कलंक दूर कर आत्म स्वरूप की स्थिरता करूँ, ऐसी साधकदशा की यह अपूर्व भावना है ॥६॥

> क्रोधप्रत्ये तो वर्ते क्रोधस्वभावता,
> मानप्रत्ये तो दीनपणानुं मान जो।
> मायाप्रत्ये माया साक्षी भावनी
> लोभप्रत्ये नहीं लोभ समान जो ॥अ०॥७॥

जैसी रुचि हो वैसी भावना होती है, आत्मा स्वभावतः कषायरूप नहीं है इसलिए चारों कषायों को छोड़ने का भाव यहाँ बताया है। आत्मा क्रोध, मान, माया और लोभरूप नहीं है, क्रोधादि भूल करना उसका स्वभाव नहीं है, वह भूलरूप होना मानता है किंतु स्वयं भूलरूप नहीं होता। जैसे क्रोध करने का भाव हो वैसे क्रोध को रोकने के लिए उग्र पुरुषार्थ रूप भाव करूँ। अर्थात् ज्ञान में स्थिर होऊँ, इस प्रकार ज्ञान स्वभाव के प्रति रुचि होने से क्रोध रुक जाता है क्योंकि अंतरंग में ज्ञानकला द्वारा ज्ञान का धैर्य प्रकट होता है। मक्खीको शक्कर और फिटकरी का विवेक है इसलिए वह शक्कर पर बैठती है और फिटकरी पर नहीं, मक्खी को भी दोनों वस्तुओं के लक्षणों को जानकर ग्रहण-त्याग का विवेक है। इसी प्रकार जीव को भी विवेक करना चाहिए। जड़ वस्तु के लक्षण से भिन्न लक्षण वाला

मैं राग, द्वेष रहित, पवित्र ज्ञान आनन्द-स्वरूप हूँ। जैसे मक्खी फ़िटकरी में खटास जानकर छोड़ती है उसी प्रकार ज्ञानी विवेक द्वारा स्वपर का लक्षण भिन्न जानकर परभाव-शुभाशुभ भाव को छोड़ता है और स्वानुभव में स्थिर रहता है। आत्मा के अनहद निराकुल आनन्द रस का रसिक मगजपच्ची में, क्लेश में क्यों फँसे ? नहीं फँसेगा।

मैं आत्मा हूँ, सत्-चैतन्यमय हूँ, शुभाशुभ रागादि तथा देहादि सर्वाभास रहित साक्षी स्वभाव, प्रत्यक्ष ज्ञाता हूँ परद्रव्य मेरे बाधक नहीं । ऐसे साधक को कभी कुछ क्रोधादि भी हों किन्तु उसके ज्ञान श्रद्धान का नाश नहीं होता। यह ऐसी उपेक्षा भाव की भावना है कि मैं उदय भाव में न अटकूँ। जैसे सत्ताप्रिय और पुण्यवान मनुष्य हो वह दूसरे को दबाने की कला अच्छी तरह जानता हो और पुण्य के सब पक्ष समान हों तो निर्बल मनुष्यों को तो खड़ा ही न रहने दे उसी प्रकार चैतन्यप्रभु में असीमित सामर्थ्य ज्ञानबल है, वे पुण्यपाप की वृत्ति को दबाकर दूर करदे, साधक को ऐसी स्वसत्ता का वीर्य प्रकट होता है। पूर्व प्रकृति की वर्त्तमान स्थिति दिखाई पड़ती है उसका साक्षी हूँ, ज्ञाता हूँ इसलिए क्रोधादि को न होने दूं ऐसे अकषाय शुद्ध स्वरूप में सावधान रहूँ, ऐसी उत्कृष्ट साधक दशा कब आवेगी ? ऐसी भावना बार बार की गई है।

'मान प्रत्ये तो दीनपणानु' मान जो' लोकोत्तर विनय और विवेक सहित दीनता रखना ; सत्स्वरूप के प्रति बहुमान करना है, नम्रता है। सच्चे गुरु का दासानुदास हूँ, पूर्ण स्वरूप का दास हूँ इसमें दीनता या गरीबी नहीं है किन्तु पूर्ण केवलज्ञान स्वरूप आत्मा का

विनय है, जिनमें जो अनन्त गुण प्रकट हो गये हैं उनको देखकर उन गुणों को अपने में प्रकट करने की रुचि का विनय है।

शास्त्र में कहा है कि क्रोध को उपशम भाव से जीतो, मान को नम्रता द्वारा दूर करो, 'अहो! सर्वज्ञ वीतराग प्रभु! कहाँ...आपकी अखण्ड पूर्णस्वरूप आनन्द दशा और कहाँ मेरी अल्पज्ञता। जबतक मुझमें केवलज्ञान प्रगट न हो तब तक मैं अल्पज्ञ हूँ'। इस प्रकार अपने पूर्ण स्वरूप में स्थिर होने के लिए अत्यन्त निर्मानता, मृदुता प्रकट की गई है। जिसे जिसकी रुचि होती है वह उसका बहुमान करता है, इस विकल्प के साथ भी पूर्ण अकषायस्वरूप हूँ इस लक्ष्य से शुद्धि की वृद्धि के लिए यह पुरुषार्थ है, ऐसा यह लोकोत्तर विनय है।

चार ज्ञानधारी श्री गणधरदेव सर्वज्ञ प्रभु के पास अपनी पामरता प्रकट करते हैं। संसार में विपरीत दृष्टि वाले दूसरों द्वारा लाभ हानि मानते हैं, पुण्यादि की पराधीनता में सुख मानकर अभिमान करते हैं कि मैं शरीर से सुन्दर हूँ, आदर एवं द्रव्य से मैं बड़ा हूँ इत्यादि उपाधिभावों को अपनाकर अनित्य जड़ पदार्थ से अपने को बलवान समझता है। पुण्यादि जड़ की उपाधि से अपने को बलवान समझना महा अज्ञान सहित विपरीत दृष्टि है। धर्मात्मा यह मानता है कि मेरे में अनन्त गुण हैं, अनन्त सुख हैं, किन्तु अभी पूर्ण पवित्र दशा प्रकट नहीं हुई इसलिए वह निर्दोष देव, शास्त्र, गुरु की भक्ति करता है। अपने अनन्त गुणों का बहुमान करते हुए वह विनय से नत होता है। जो पूर्णता का साधक है उसे पूर्ण पवित्र स्वरूप की आराधना में अल्प भी दोष रखने की बुद्धि नहीं होती। विनयी धर्मात्मा अत्यन्त

कोमलतासे सरल परिणामोंमें रहता है, वह निर्दोष स्वभावमें जागृति वाली भावना भाता है कि गर्व का एक अंश भी नहीं हो, ऐसी निर्मानता वीतराग दशा कब होगी ?

साधक के अन्तर में पूर्णशुद्ध परमात्मस्वरूप की प्रतीति रहती है इसलिए वह जानता है कि मैं अभी वर्त्तमान दशा में अस्थिरता रूप कमजोरी को लिए हुये पामर हूँ अर्थात् मैं पूर्णस्वरूप का दासानुदास हूँ। ऐसा विवेक होने से वह वीतरागी साधु का बहुमान करता है। उसे परमार्थ से अपने स्वरूप की भक्ति है। मेरा पूर्ण स्वभाव अभी प्रकट नहीं हुआ इसलिए अभिमान कैसे करूँ ? ऐसा जानता हुआ वह स्वरूप की मर्यादा में रहता है।

जीव की सिद्ध परमात्म दशा पूर्णरूप से निर्मल होने के बाद कोई अन्य मर्यादा लांघने को शेष नहीं रहती है। स्वभाव ही अपने आप में परिपूर्ण है किन्तु साधक दशा में अभी उसके अनन्तवें भाग भी गुण की शुद्धता प्रकट नहीं हुई तो उसमें अभिमान कैसे करूँ ? मुमुक्षु-साधक आत्मा अति सरल, हित-अहित भाव को समझने में विचक्षण और विनयवान होता है। उसमें ही पात्रता और लोकोत्तर विनय की महत्ता है। प्रभु का भक्त प्रभु जैसा ही हो। मैं परमात्मा का दासानुदास हूँ, चरणरज हूँ, ऐसी निर्मानता साधक के होती है। वह अपने गुणों पर लक्ष्य कर स्वभाव की शुद्धता बढ़ाने वाला होने से पुण्यादि, देह आदि की गुरुता स्वीकार नहीं करता है। साधक अभूत-पूर्व पवित्र निर्मान दशा (मध्यस्थ दशा-वीतराग दशा) की भावना करता है। पहले अनन्तकाल में शुभराग में लौकिक सत्य, सरलता,

निर्मानत्व आदि किये हैं वे नहीं किन्तु आत्मा के यथार्थ भान सहित अकषाय लक्षसे कषायादि राग द्वेष की अस्थिरता का सर्वथा क्षय करूँ ऐसा अवसर अपूर्व है। जीव ने अज्ञानभाव में तो बहुत किया है बाह्य में त्यागी होकर ध्यान में बैठा हो, तब उसके शरीर को जलादे अथवा चमड़ा उतारकर नमक डाल दे तो भी मनमें जरासा भी क्रोध नहीं करे, ऐसी क्षमा अज्ञान भाव में अनेक बार की किन्तु अंतरंग में मन सम्बन्धी शुभ परिणाम का पक्ष (बन्धभाव) बना रहा तब भी ज्ञानभाव युक्त निर्जरा नहीं हुई। आत्मा के भान बिना जो सरलता, विनय, निर्मानत्व, शास्त्रों का पठन आदि हैं वे सब मनकी धारणारूप परभाव हैं। जीव उस बन्धभाव (उदयभाव) को अपना मानकर शुभ अशुभ में रुचिरूप से परभाव में लीन रहा है किन्तु आत्मा को परसे निराला, निरालम्बी कैसे रखें, इसकी ज्ञानकला जबतक जीव नहीं जाने तब तक उसका सारा श्रम व्यर्थ में ही जाता है क्योंकि वह अज्ञान (विपरीत ज्ञान) से छुटकारा हो बचाव है ऐसा नहीं है।

"मायाप्रत्ये माया साक्षी भावनी" कपट भाव की तुच्छ वृत्ति के समक्ष अखण्ड ज्ञायक साक्षी भाव की जागृति रूप सरलता अर्थात् विभाव समक्ष (मलिन भाव समक्ष) विरुद्ध रूप निर्दोष विचक्षणता विकसित हो तो गुण द्वारा दोष दूर हों।

कोई कहता है कि संसार में 'शठे शाठ्यं समाचरेत्' क्योंकि वैसा किये बिना काम नहीं चलता। स्त्री-पुत्रादिक सब अनुशासन में रहें इसलिए हमें तो घर, व दुनियादारी के लिए कषाय करनी ही पड़ती है, उसको ज्ञानी कहते हैं कि तुम्हारी यह मान्यता विपरीत है,

भ्रम है। पाप करूँ, क्रोध-कपट करूँ तो सब ठीक रहे अर्थात् दोष से लाभ हो, यह कैसे बने ? जो ऐसे विपरीत सिद्धान्त को मान्य करते हैं, वे क्रोध, कपट को नहीं छोड़ सकते क्योंकि शठ के प्रति शठता करना स्वयं अपराध है। शठ के प्रति भी सरलता सज्जनता होनी चाहिए। प्रयोजनवश किसी को सूचना देने का विकल्प आ जाय, यह अलग बात है किन्तु कषाय करने योग्य है ऐसी मान्यता तो विपरीत है। थोड़ा बहुत क्रोध, मान, माया, लोभ करूँ तो सब ठीक बना रहे ऐसा जो मानता है उसका अर्थ यह हुआ कि अवगुण करूँ, दोषदम्भ करूँ तो ही अच्छा रहे, व्यवस्था रहे, ये सब विपरीत मान्यता है। दोष करने योग्य मानने से दोष रखने की बुद्धि हुई तो उससे गुण कैसे प्रकटे ? इसलिए आत्मा का हित करना हो तो यह निर्णय करना चाहिए कि मेरा स्वभाव असीम समता क्षमा रूप है।

संसार देहादि परद्रव्य की व्यवस्था में कोई किसी के अधिकार में नहीं; प्रत्येक वस्तु का कार्य स्वतन्त्र है; कोई वस्तु दूसरे के अधीन नहीं है। किसी के राग द्वेष करने से वह चीज अनुकूल नहीं होती किन्तु पूर्वका पुण्य हो तो वह उस कारण से अनुकूल दीखती है किन्तु कोई चीज या कोई आत्मा अन्य किसी के अधीन नहीं है।

कोई कहे 'व्यापक प्रेम करने से जगत वश में होता है इसलिए विश्व भर से प्रेम करना प्रेम का विस्तार करना चाहिए।' इसका यह अर्थ होता है कि अधिक राग करूं तो सब मेरे अनुकूल हो जाँय, तब मुझे शांति की प्राप्ति हो; किन्तु ऐसा होता नहीं, क्योंकि सब स्वतन्त्र हैं। इसलिए पर द्रव्य से धर्म और शांति मानने वाले पर के

आश्रित अपना समाधान करना चाहते हैं उनके सभी सिद्धान्त झूठे हैं, निर्दोष मोक्षमार्ग में तो परसंयोग की अपेक्षा रहित, रागद्वेष-विषय-कषाय रहित, त्रिकाली ज्ञायक हूँ, परसे भिन्न पूर्ण पवित्र ज्ञानमय हूँ, रागादिरूप नहीं हूँ शरीरादि की क्रिया नहीं कर सकता, पुण्यादि पर चीज की सहायता की दीनता, अपेक्षा वाला नहीं हूँ, अकेला पूर्ण ज्ञान आनन्द स्वभावी हूँ, ऐसी पवित्र दशा प्रकट करने का जो स्वलक्ष्य की स्थिरतारूप पुरुषार्थ अपने से ही होता है। उसमें परवस्तु की आवश्यकता हो, ऐसी पराधीनता नहीं है क्योंकि प्रत्येक आत्मा का ज्ञान स्वभाव सदैव ही स्वतन्त्र है, पूर्ण है। शुद्ध स्वभाव की दृष्टि में अंशमात्र भी राग नहीं है, परावलम्बन नहीं है, इतना होते हुए भी स्वभाव की पूर्ण स्थिरता में न रह सके तब निर्दोष देव-गुरु-शास्त्र तथा वीतराग धर्म के प्रति विनय-भक्तिरूप झुकाव रहता है। वहाँ भी वीतरागता की रुचि की लगन है। उसमें थोड़ा भी रागद्वेष आदरणीय नहीं है तो फिर पर का करूँ, न करूँ, ऐसी बात कैसे होय ? क्योंकि कोई आत्मा परका कुछ नहीं कर सकता इसलिए जिन्हें हितरूप सम्यक् मार्ग अपनाना है, स्वाधीनता में स्थित रहना है, अपना सच्चा हित करना है उन्हें अपने निर्दोष ज्ञान स्वभाव द्वारा समझना चाहिए कि दोष से गुण प्रकट नहीं होता, इसलिए त्रिकाली वस्तु स्वरूप को अबाधित न्याय द्वारा समझना चाहिए।

आत्मा सदैव ज्ञान आनन्द स्वरूप निर्दोष साक्षी है। मैं ज्ञाता हूँ, पूर्ण हूँ, शुद्ध हूँ, ऐसी श्रद्धा उस स्वाधीन पूर्ण स्वरूप का ज्ञान और उसका ही आचरण हो वहाँ थोड़ा सा भी क्रोध, मान, माया, लोभ आदरणीय नहीं होते। वर्तमान पुरुषार्थ की कमजोरी से

अल्प कषाय की अस्थिरता हो यह भिन्न बात है किन्तु हम गृहस्थी हैं इसलिए हमें थोड़ा रागद्वेष भी करना चाहिए तो ही सब ठीक रहें, यह अभिप्राय मिथ्या है क्योंकि पूर्व पुण्य बिना बाह्य की अनुकूलता नहीं मिलती। वास्तव में बाह्य की अनुकूलता है, ऐसा कहना कल्पना मात्र है। मैं घर, संसार, देहादि को ऐसे ही ठीक रख सकता हूँ, सबको वशमें रख सकता हूँ, पर मुझे सहायक हैं, मैं दूसरे की सहायता कर सकता हूँ–यह मान्यता अज्ञान है, मिथ्या–दर्शन–शल्य है।

प्राचीनकाल में किसी महान् राज्य का स्वामी एक परदेशी नाम का राजा था, किन्तु एक समय ऐसा हुआ कि उसकी रानी ने ही उसे जहर दे दिया, ऐसा जानकर भी उसने अपनी स्त्री पर क्रोध नहीं किया और जाना कि इस शरीर का अन्त इसी प्रकार से होना था। मैं किसी परवस्तु का स्वामी नहीं हूँ, स्त्री को मेरे शरीर से लाभ न हुआ इससे उसने द्वेषरूप यह कार्य किया। मैं अपना ज्ञानरूप कार्य करूं, जहर खिलाया यह भी जान लिया। मैं तो असंयोगी ज्ञाता ही हूँ ऐसा विचार करते करते राजा ने अपने पवित्र स्वभाव की महिमा में स्थिर होकर महापवित्र समाधिदशा में ज्ञानभाव में देह छोड़ी, किन्तु अपनी राजसत्ता का उपयोग नहीं किया। यह उसकी भूल नहीं थी किन्तु ज्ञानी की विचक्षणता थी, विवेक था। कोई कहे कि मैं पर चीज में विचारा हुआ काम करूं, किन्तु कोई का किसी द्वारा कुछ भी नहीं हो सकता। जीव ज्ञान में स्व को भूलकर मात्र रागद्वेष, कर्ता–भोक्ता का भाव कर सकता है। प्रत्येक आत्मा अपने अनन्त गुणोंयुक्त अनन्त सामर्थ्ययुक्त है। तीनकाल और तीनलोक में कोई भी पररूप पर की क्रिया करने को समर्थ नहीं है। एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कुछ

भी कार्य नहीं कर सकता। निमित्तरूप से कर्त्ता हूँ ऐसा मानना भी अज्ञान है क्योंकि पर को दबाने का कषाय भाव करे तो भी पर से लाभ हानि नहीं हो सकते किन्तु अपने त्रैकालिक स्वभाव के लक्ष्य में ज्ञान स्वभाव की जागृति और शांति रूप रहे तो निर्मलता प्रकट हो। कोई वस्तु पराधीन नहीं है। प्रत्येक पदार्थ सर्वथा स्वतन्त्र है, भिन्न भिन्न है। अनादि और अनन्तरूप से अपने आपमें परिपूर्ण है मात्र स्वभाव का लक्ष्य करके अनादि कालीन विपरीत अभिप्राय (खोटी मान्यता) दूर करने की प्रथम आवश्यकता है।

सच्चा ज्ञानी अन्तरंग से समाधान करता है और अज्ञानी पर में इष्ट अनिष्ट कल्पना करता है। कुटुम्ब में किसी की भूल हो जाय तो विवेक से समाधान करना चाहिए। पति में भूल हो तो स्त्री उपेक्षा करती है, सहन करती है, कभी स्त्री भूल करे तो उसका पति जरा भी सहन न करे यह न्याय नहीं है। लौकिक नीति व्यवहार में सज्जनता का दावा करने वाला अपने मान्य सिद्धान्तों के लिए बहुत कुछ सहन करता है और इस नीति के लिए अन्य सबकी उपेक्षा करता है। इसी प्रकार आत्मधर्म में व्यावहारिक सज्जनता तो होनी ही चाहिए। अखिल संसार की क्या स्थिति है, जो यह विवेक से तथा समझ पूर्वक धैर्य से जानता है वह अन्य को दोष दुःख देने का भाव नहीं करता।

प्रश्न—आपकी बात सच्ची है किन्तु घर संसार में रह कर ऐसा होना असम्भव है।

उत्तर—पर संयोग किसी का लाभ या नुकसान नहीं करा सकते, अज्ञान से मानो भले ही। जिसे ऐसा अभिमान है कि यदि

हम क्रोधादि कषाय न करें तो काम नहीं चले, मान, इज्जत अनुकूलता नहीं मिले लोक में निर्बल कहलायें, किन्तु उसके ऐसे अभिप्रायानुसार पर में कुछ नहीं होते इसलिये ऐसी मान्यता खोटी है।

१. जिन्होंने तीव्र क्रोध, मान, माया, लोभ में चैतन्यवीर्य को संलग्न कर दिया है, पर को दबाया और अनीतिपूर्ण अभद्र आचरण किये हैं वे भयंकर नरकगति में नपुंसक हुये हैं। नपुंसक जीव को स्त्री पुरुष दोनों के कामभोग की अनन्ती तीव्र आकुलता होती है।

२. जो क्रोध, मान, लोभ में थोड़े लगे और जिन्होंने कपट अधिक किया वे तिर्यंच-पशु हुये।

३. जो मन्दकषाय के मध्यम भाव में रहे वे मनुष्य हुये।

४. जो शुभ भाव में बढ़े वे देव हुये।

५. जिन्होंने स्वरूप की स्थिरता द्वारा कषाय में अपना उपयोग सर्वथा नहीं लगाया वे वीतरागी सिद्ध-परमात्मा हुये।

'सब जीव सिद्ध समान हैं ऐसा जो समझता है वह सिद्ध होता है। सिद्ध परमात्मा के समान पूर्ण पवित्र शक्ति प्रत्येक आत्मा में निहित है, जो इसे समझे वह वैसा हो सकता है। किन्तु असीम ज्ञानसमता स्वरूप की पवित्र शांति को भूलकर क्रोध, मान, माया, लोभरूप विषय-वासना में लीन होना परवस्तु में इष्टबुद्धि करना महापाप है, स्वाधीन, स्वरूप की अनन्ती हिंसा है। क्रोधादि तुच्छ भावों को धारण करने में अपनी हीनता, नपुंसकता है। इसलिए सर्व

प्रथम आत्मा के यथार्थ स्वरूप को जानकर परसे इष्ट अनिष्ट मानना व परमें कर्त्तृत्व व भोक्तृत्व माननेके अभिप्राय बदल कर, ऐसा निर्णय करे कि मेरे नित्य ज्ञान स्वभाव में जरा भी क्रोध, मान, माया, लोभ नहीं है इसलिए ये करने योग्य नहीं हैं। हित अहित रूप मानना तो अपना ही भाव होने से उसे (अपने भाव को) वश में रख सकता है, ऐसे विवेक रूप स्वभाव निश्चित होनेसे यह निश्चित हुआ कि क्रोधादि दोष द्वारा स्त्री पुत्र आदि ठीक रहें और वश में रहें, ऐसा मानना झूठा ही है। इसलिए त्रिकाली गुण दृष्टि रखकर अवगुण (दोष) करनेका लक्ष्य स्वप्न में भी नहीं करना चाहिये। जरा भी क्रोधादि कषाय मेरे में नहीं है इसलिए इन्हें न होने दूं—ऐसी दृष्टि और सावधानी ध्यानपूर्वक निरन्तर रखनी चाहिये।

'माया प्रत्ये माया साक्षी भावनी' जैसे ज्ञान स्वभाव की जागृति छिपाकर दूसरे से कपट भाव किया करता था वैसी प्रवृत्ति छोड़कर मैं अखण्ड ज्ञानस्वभाव की जागृति इस प्रकार रखूं कि किसी प्रकारका कपट अंश आवे तो उससे भिन्न रहूँ, निर्दोष साक्षीभावकी ज्ञान-दृष्टि द्वारा जान लेऊँ। 'स्वभावकी जागृतिमें अंशमात्र भी कपट नहीं आने दूं, पवित्र सरल स्वभाव की दृष्टि द्वारा माया-कुटिल भाव को जीतलूं' ऐसी मेरी भावना है।

'लोभ प्रत्ये नहि लोभ समान जो' जैसे लोभ में लोभ करने योग्य है' ऐसा ममत्त्व भाव था, अब मैं इस लोभ के प्रति अंशमात्र भी लोभ नहीं रखूं किन्तु निर्लोभतारूप अकषायी सन्तोषभाव से आत्मा में स्थिर रहूं परम शांतिमय मेरे आत्मा में तृप्त रहूं। मैं अनन्त

ज्ञान-शांति स्वभावी हूँ। ज्ञानस्वभाव में स्थिरता द्वारा निर्मलता प्रकट होने से त्रिकाल और त्रिलोक का ज्ञान प्राप्त होता है, उस पूर्ण आनन्द स्वभाव को भूलकर पर संयोग में सुखबुद्धि मानकर विपरीत हुआ, इससे तीन काल और तीनलोक के परिग्रह की तृष्णा बढ़ती जाती है किन्तु उस तृष्णा का पेट कभी भरा हो, ऐसा नहीं होता। अज्ञानभाव में अनन्ती तृष्णा द्वारा जैसे लोभ करने में असीमता थी वैसे ही मैं ज्ञानस्वभाव में दृढ़ होने से बेहद संतोष स्वरूप पूर्ण शुद्धता के ज्ञान द्वारा अनन्त ज्ञान एवं संतोष रख सकता हूँ। संसार की वासना को दूर कर मैं पुण्य पापरहित पूर्ण शुद्ध पवित्रता में ठहरूँ और नित्य स्वभाव का संतोष प्राप्त करूँ ऐसी यह भावना है।

पूर्ण पवित्र सिद्धपद अपने में शक्तिरूप में है, उसकी प्राप्ति के लोभ का विकल्प छठे गुणस्थान तक होता है किन्तु दृष्टि में शुभ विकल्प का नकार है और भविष्य में 'प्रभु की आज्ञा से उसी स्वरूप में होऊंगा' इसका वर्तमान में संतोष है, अर्थात् संसार के पुण्यादि परमाणुओं की इच्छा नहीं है किन्तु मोक्ष की इच्छा का विकल्प छूटकर स्वरूप की स्थिरता की अपूर्व प्राप्ति कब होगी? ऐसी यहाँ भावना की गई है।

> बहु उपसर्गकर्त्ता प्रत्ये पण क्रोध नहीं,
> वंदे चक्रि तथापि न मले मान जो;
> देह जाय पण माया थाय न रोममां,
> लोभ नहीं छो प्रबल सिद्धि निदान जो ॥८॥

'अपूर्व अवसर' की भावना में ऐसी रुचि का चिन्तन है कि

उत्कृष्ट साधक दशा प्रकट हो और शुभाशुभ भावों का क्षय करूँ कि जिससे पुनः बन्धन में न फँसूं। अखण्ड, अबन्ध, अपूर्वदशा द्वारा विकल्प को दूर करूँ अर्थात् मेरी शुद्धदशारूप पुरुषार्थ को उग्र करके कर्म उदय की सूक्ष्म संधि को पुरुषार्थ द्वारा तोड़दूं, ऐसी उत्कृष्ट साधक दशा कब आवेगी ऐसी भावना यहाँ की गई है। अत्यधिक उपसर्ग करने वाले के प्रति भी लेशमात्र क्रोध न हो, ऐसी यह भावना है। क्रोधादि कषाय करने का अभिप्राय नहीं है किन्तु स्वरूप की स्थिरता की दृढ़ता का उग्र पुरुषार्थ करूँ ऐसी भावना है।

स्वयं निरपराधी होते हुए भी किसी देव, मनुष्य, तिर्यंच अथवा अचेतन प्रकृति कृत घोर उपसर्गजनित असाता का उदय हो तो भी उसके प्रति लेशमात्र भी क्रोध नहीं करूँ क्योंकि पहले असाता वेदनीयादि अनेक कर्म बांधे हैं, वे अपनी स्थिति अनुसार फल देकर निर्जरा को प्राप्त होते हैं, वे अस्थायी हैं, उनसे ज्ञान गुण को कोई हानि नहीं होती। कोई यह माने कि मैंने बहुत सहन किया तो उसकी यह मान्यता झूंठी है क्योंकि ज्ञान का स्वभाव असीम रूप से जानना है। जिसे केवलज्ञान प्रकट हो वहाँ सब अनन्त को सहज ही जाना जाता है। उस दशा के बिना 'मैंने बहुत जान लिया, सहन किया' ऐसा मानना भूल है। कोई कहे कि कोई मुझे गाली दे, मेरी निन्दा करे तो कितनी बार सहन करूँ? सहन करने की कोई सीमा तो होनी चाहिए? किन्तु ऐसा नहीं है। सहन करना अर्थात् सम्यग्ज्ञान के कार्य को विवेकरूप जान लेना है। अनन्ती प्रतिकूलता के संयोग दिखाई पड़ते हुए भी ज्ञान रुकने का स्वभाव वाला नहीं है, जानने में दोष या दुःख नहीं है। जो जैसा है वैसा जानना तो गुण है

उसमें अनन्ती समता है। आत्मा सदैव ही बेहद ज्ञान समता का समुद्र है, पर चीज को जानता हूँ ऐसा कहना व्यवहार मात्र है वास्तव में स्वयं अपने ज्ञान की स्वच्छता को अपने में जानता है देखता है, पर वस्तु किसी को बिगाड़ने वाली या सुधारने वाली नहीं है।

आत्मा स्वाधीन ज्ञान स्वरूप है। वह रागादि या देहादि पर-वस्तुरूप तीन कालमें भी नहीं है। एक द्रव्यमें परद्रव्य का कारण कार्यभाव, पराधीनता या परका सहायकत्त्व तीनलोक और तीनकाल में नहीं है। घास के एक तिनके के दो टुकड़े करने की ताकत किसी आत्मा में नहीं है फिर भी कोई ऐसा माने कि आत्मामें ऐसी ताकत है तो उसकी मान्यता झूठी है, उसे स्वतन्त्र ज्ञान स्वभावी आत्मा का तथा पुद्गल की स्वतन्त्रता का भान नहीं है।

जिनकी निमित्त पर दृष्टि है, उन्होंने रागको करने योग्य माना है। मुझे पर से लाभ हानि है ऐसा जो मानता है उसने अनन्त पर के साथ अनन्त रागद्वेष को करने योग्य माना है। उनकी विपरीत मान्यता में तीनों काल रागद्वेष करने योग्य हैं, ऐसा आया किन्तु ज्ञान में स्वलक्ष से ज्ञान का समाधान करना चाहिए, ऐसा उन्होंने स्वीकार नहीं किया। जिन्होंने सर्वज्ञ वीतराग के न्याय से यथार्थज्ञान स्वभावको जानकर अनादि अनन्त एकरूप, पर से भिन्नरूप जानने वाला हूँ ऐसा बेहद, अपरिमित ज्ञान, समता स्वरूप की प्रतीति की उनका ज्ञान स्वभाव का धैर्य किसी प्रकार नहीं छूट सकता। इसलिए गृहस्थ दशा में भी अखण्ड ज्ञान स्वभाव की प्रतीति में बेहद समता सहज ही आती है।

ज्ञान तो गुण है, गुणसे दोष की उत्पत्ति संभव नहीं है। जिन्होंने ज्ञान को अपना स्वरूप स्वीकार किया उन्होंने पर से प्रतिरुद्ध होना नहीं माना। ज्ञान में जो जैसा है उसे वैसा जान लेना तो गुण है ज्ञान का कार्य जानना है, राग का कार्य पर वस्तु में इष्ट अनिष्ट कल्पना कर सकना है। ज्ञान तो प्रत्येक आत्मा का स्वतन्त्र अखण्ड स्वभाव है, वह किसी भी काल में जानने से समाप्त हो या अटक जाय ऐसा स्वभाव नहीं है।

जिन्हें पर वस्तु में तीव्र स्नेह है उन्हें तृष्णा और मोह रहित ज्ञानस्वभावी आत्मा की पहचान नहीं है। अमुक मोह दूर किए बिना धर्म के समीप आना नहीं होता। खर्च करने से पैसा नष्ट नहीं होता, यह न्याय का सिद्धान्त है। मध्यस्थ भाव से यथार्थ रूप से प्राकृतिक नियम समझना चाहिए कि दान देने से धन नहीं नष्ट होता किन्तु पुण्य नष्ट हो तो धन नष्ट हो। निर्लोभी अकषायी पवित्र आत्मस्वरूप की पहचान होने के पश्चात् शुद्धात्मा का लक्ष्य निरालम्बी ज्ञान-भाव में रहता है, अतः सर्वप्रथम संसार के प्रति अशुभ राग छूट कर सच्चे धर्म की प्रभावना के लिए लोभ कषाय का त्याग करता है। सच्चे धर्म की साधना करने वाले स्थिर रहो अर्थात् मेरा वीतरागभाव बढ़ जाय ऐसी भावना वाले गृहस्थ के अशुभ से बचने के लिए दानादि क्रिया हुए बिना नहीं रहती, पर की क्रिया के साथ सम्बन्ध नहीं है किन्तु गुण की रुचि में राग सर्वथा दूर नहीं हुआ इसलिए जो राग रहा उसकी दिशा वह बदलता है किन्तु शुभ राग को (धर्म में) सहायक नहीं मानता। पर से सर्वथा भिन्न निवृत्ति स्वरूप-ज्ञान स्वरूप हूँ ऐसी

स्वाधीन तत्त्व की रुचि राग का नाश करने वाली है इसलिए ब्रह्मचर्य सत्य आदि सद्गुणों की रुचि हुए विना नहीं रहती। स्वरूप की सच्ची पहचान होते ही तुरन्त त्यागी हो जाय ऐसा नियम नहीं है। जिसे सच्ची पहचान हो उसके व्यवहार नीति और पारमार्थिक सत्य प्रकटे विना नहीं रहता। जहाँ पारमार्थिक सत्य है वहाँ व्यवहार में सत्य वचनादि हो ही। जिसने सत्य का भान किया हो उसे असत् खोटी समझ का अंश भी न रहे, यह अटल नियम है।

'वीर्य रुचि का अनुयायी है।' जिसमें जिसका प्रेम हो वह उस इष्ट की प्राप्ति के लिए पुरुषार्थ करे ही, जिसकी रुचि हो उसके लिए मर पच कर भी प्राप्ति का प्रयत्न करे ही, ऐसा नियम है। पराधीनता का दुख देखे तो दोष दुख रहित मैं अकेला हूँ ऐसा विचार करे और अन्य सब की उपेक्षा कर छूटने का उपाय करे। जैसे कीडा या लट पत्थर के नीचे दबा हुआ भी जीने के लोभ से शरीर पर बहुत वजन होते हुए भी देह के टुकड़े हो जाय ऐसा जोर कर भी बाहर निकलता है। मकोड़ा किसी के चिपट जाय तो भले ही आधा शरीर टूट जाय किन्तु छोड़े नहीं, ऐसे ही प्रत्येक जीव अपने संकलित कार्य को करता दिखता है। अतः यह सिद्ध हुआ कि समझ के अनुसार रुचि, रुचि अनुसार वीर्य हो ही। जिसे जिस प्रकार का श्रद्धान निश्चित् हो जाय, वे इष्ट मान ले उसकी प्राप्ति के लिए पूर्ण पुरुषार्थ करे ही, उसके लिए अपने शरीर की भी परवाह नहीं करता किन्तु अपने मान्य इष्ट की प्राप्ति के लिए प्रयत्न करे ही। (पर वस्तु को कोई प्राप्त नहीं कर सकता, कल्पना से मान भले ही ले) लौकिक

कहावत है कि देह का नाश हो तो हो किन्तु इष्ट प्रयोजन की प्राप्ति करेंगे ही।

उसी प्रकार अनन्त काल की पराधीनता से, रागद्वेष अज्ञान भाव से छूटने का उपाय जिन्होंने अपने ज्ञान स्वभाव द्वारा जान लिया उसकी रुचि क्यों न हो? मैं सदैव ज्ञानादि अनन्त गुणों से परिपूर्ण हूँ, शुद्ध हूँ, रागादि पुण्य, पाप, पर उपाधि, विकार आदि मेरे में नहीं हैं। मैं पर से भिन्न ही हूँ ऐसा जिसने जान लिया वह यथार्थ स्वरूप की निःशंक श्रद्धा में ज्ञानबल द्वारा, स्वाधीन स्वरूप की एकाग्रता से पूर्ण सिद्ध पद लेने के लिए, स्वरूप रसमें लिप्त, लीन हो तो कैसे डिगे? भले ही शरीर छूट जाय किन्तु इस पूर्ण स्वभाव की शुद्धता की संधि और शुक्ल ध्यान की श्रेणी न छूटे ऐसा अपूर्व अवसर (अव=निश्चय, सर=श्रेयो मार्ग) कब आएगा ऐसी यह भावना की गई है।

मैं पर से भिन्न त्रिकाली ज्ञान स्वभाव रूप हूँ किसी द्वारा रुकने वाला नहीं, पर रूप नहीं हूँ, रागादि रूप नहीं हूँ, दूसरे के प्रति झुकाव का अशुद्ध भाव तो एक समय मात्र की अवस्था जितना है, मैं नित्य टंकोत्कीर्ण ज्ञायक एक रूप हूँ किसी निमित्त की अपेक्षा वाला नहीं हूँ, ऐसा प्रत्येक आत्मा पूर्ण स्वतंत्र भगवान है। सर्वज्ञ भगवान के शासन में सम्पूर्ण जगत का न्याय निहित है, मध्यस्थता पूर्वक स्वतन्त्र स्वभाव से विचारे तो सर्वज्ञ के उक्त न्याय के अनुसार सारा ज्ञान आत्मा में है। श्रीमद् ने भी यही कहा है :—

"बहु उपसर्ग कर्ता प्रत्ये पण क्रोध नहिं" 'बहु' शब्द उपसर्ग की असीमता सूचित करता है, बहु उपसर्ग के समक्ष भी बहु क्षमा

स्वभाव जाग्रत है। क्षमा अर्थात् स्वभाव से परिपूर्ण ज्ञानदृष्टि में किसी के दोष दिखाई नहीं पड़ते क्योंकि कोई वस्तु दोष रूप नहीं है, भले ही घोर प्रतिकूलता का प्रसंग ज्ञान की स्वच्छता में जाना जाय किन्तु उससे ज्ञानीको बाधा नहीं है। अशुभ कर्मके संयोगको ज्ञानी जानता है कि जैसे विपरीत पुरुषार्थ द्वारा विकारी पर्याय पहले अपनाई उस भूल का फल वर्तमान में दिखाई देता है किन्तु अब मैं त्रिकाली अखण्ड ज्ञान स्वभाव का स्वामी होने से भूलरूप परिणमन नहीं करता किन्तु निर्दोष ज्ञाताभाव से भूल रहित स्वभाव के भान में स्थित होकर भूत-कालीन अवस्था और निमित्त का ज्ञान करता हूँ।

ज्ञानी जिन संयोगों को देखता है उनमें हर्ष शोक नहीं करता। निर्दोष ज्ञान स्वभाव का लक्ष्य रख कर भी ज्ञानी अल्प राग द्वेष में लग जाता है किन्तु उसकी मुख्यता नहीं है, मैं त्रिकाली ज्ञान स्वभावी हूँ इसकी मुख्यता है। ऐसा विचार कर निःशंक स्वभाव में सच्चा अभिप्राय लावो कि मैं राग, द्वेष, मोह रूप नहीं हूँ क्योंकि वे मेरे स्वभाव नहीं हैं, इसलिए कषाय अंश मात्र भी करने योग्य नहीं है, राग द्वेष न होने देऊँ अर्थात् जाग्रत ज्ञान स्वभाव की बेहदता में स्थिर रहूँ। ऐसा अभिप्राय जाग्रत रखना ही ज्ञान की क्रिया है। अल्प राग का अंश अभी होता है यह अलग बात है किन्तु हमें राग द्वेष करने पड़ते हैं ऐसा मानने में तो बहुत अहित है। मैं दूसरों को समझा दूँ, मेरे द्वारा दूसरे समझते हैं, मेरी सलाहसे सब भली प्रकारसे रहते हैं, इस प्रकार पर की व्यवस्था का कर्तृत्व एवं ममत्व रखूँ ऐसी मान्यता महापाप है। पर का कुछ भी कार्य कर सकूँ यह विपरीत अभिप्राय है

और उस अभिप्राय में अनन्ती आसक्ति है इसलिए सर्वप्रथम इस अभिप्राय को बदलना चाहिए।

मैं सदा ही पर से भिन्न ज्ञानानन्द स्वरूपी हूँ, ज्ञान सिवा कुछ भी नहीं कर सकता। मैं पराश्रय में लगने वाले भाव को नित्य स्वभाव की भावना द्वारा दूर करने वाला हूँ 'पर' मुझे सहायक नहीं हो सकता। मेरा कर्त्तव्य तो यह है कि राग रहित, परावलम्वन रहित ज्ञान करूँ। मैं पूर्ण पवित्र ज्ञान मात्र हूं ऐसा अभिप्राय मैं निरन्तर बना रखूं और स्वरूप की दृढ़ता बढ़े यही हितकर है।

भले ही किसी को प्रसंगवश सलाह, सूचना देने का विकल्प आवे, किन्तु उसमें किसी प्रकार का आग्रह ममत्त्व न होना चाहिए। मेरी बात से कोई सुधरे या बिगड़े इसका कर्त्तृत्व ममत्त्व छोड़ देता हूँ। तत्पश्चात् वह सुधरे या न सुधरे यह उसके भावों पर निर्भर है, मैं किसी को कुछ कर नहीं देता। मैं तीनों काल में ज्ञान ही करता हूं ऐसा मानने से राग द्वेष होने का अवकाश नहीं रहता, सुधरना तो उसे स्वयं को है। त्रिकाली द्रव्य स्वभाव में कुछ बिगाड़ नहीं होता। वर्तमान एक समय की अवस्था में पराश्रय कर जीव नये रागद्वेष करता है यह उसकी भूल है। इस भूल को वह नित्य ज्ञान स्वभाव के लक्ष्य और स्थिरता द्वारा दूर कर सकता है। इसलिए समाधान स्वयं को ही करना है, पर से कुछ भी नहीं है। इसी में अनेक प्रश्नों का समाधान हो जाता है। मैं दूसरे को शीघ्र समझा दूँ, पर की व्यवस्था रख सकता हूँ ऐसी मान्यतायें सब मिथ्या हैं। जिसने अपने आपको सुधार लिया उसका सारा जगत सुधर गया, जिसने स्वाधीन स्वरूप में

निजात्मा को अविरोध रूप से. जान लिया उसके कोई विघ्न नहीं है। चाहे अनुकूल या प्रतिकूल बहुत उपसर्ग आवें उनमें ज्ञान को क्या? उपसर्ग चार प्रकार के हैं—देव, मनुष्य, पशु और अचेतन कृत। उनमें किसी के प्रति भी क्रोध नहीं आवे ऐसी भावना है।

कोई माने कि मैं अपने भाई, मित्र, पुत्र, समाज आदि का इतना उपकारी रहा हूँ किन्तु वे फिर भी मेरी निन्दा आदि द्वारा प्रतिकूलता उपस्थित कर मुझे हैरान कर देते हैं, ऐसा मानना भी मिथ्या भ्रम है। ये सब संयोग पूर्व कर्म के निमित्त हैं, तू उनमें अपने इष्ट अनिष्ट रूप होने की कल्पना करता है, निमित्त आत्मा में नहीं हैं तुझे दूसरा जबरदस्ती से बिगाड़ नहीं सकता।

कोई भी परवस्तु दूसरे को राग, द्वेप, क्रोधादि नहीं करा देती। आत्मा अरूपी, ज्ञानघन, ज्ञानपिंड है उसमें रागद्वेष उपाधि का अंश नहीं है, तब परवस्तु के प्रति क्षोभ किसलिए करना चाहिए? जो वस्तु पर है वह सर्वथा भिन्न अपने स्वभाव में स्थित है। ऐसे स्वतन्त्र वस्तु स्वभाव को कोई भिन्न जानले तो उसे ज्ञात होगा कि मेरे में न क्रोध है, न द्वेप है, न हठ है, न उपाधि है।

आत्मा ज्ञाता, साक्षी है, उसमें अरूपी ज्ञान में प्रीति या अप्रीति आदि विकल्पों का अंश भी नहीं है। परवस्तु किसी के लिए इष्ट अनिष्ट नहीं है, लौकिक जन परवस्तु से इष्ट अनिष्ट, सुख, दुख की कल्पना कर लेते हैं और अपने को राग वाला मानते हैं। किन्तु यदि आत्मा रागादि रूप हो तो राग दूर नहीं किया जा सकता। जीव पर के कारण से अपने को सुखी दुखी मानता है यह भी वास्तविक नहीं

है। यदि जीव को पर से दुख होता हो तो जीव कभी क्षमा नहीं रख सकता किन्तु ऐसा नहीं होता। आत्मा चाहे तो किसी भी प्रतिकूल संयोगों, प्रसंगों में क्षमा, समता, शान्ति रख सकता है, उसमें कोई भी बाधा नहीं दे सकता। निमित्त चाहे जैसा मिले किन्तु उनमें से सुलटा अर्थ कर सकते हैं।

पवित्र ज्ञानी की भी कभी निन्दा होती है, उसकी निन्दा करने वाले पुस्तकें भी लिखते हैं किन्तु उनसे आत्मा को क्या ? कौन किसकी निन्दा करता है ?

प्रत्येक अक्षर अनन्त परमाणुओं से बना हुआ है, वाणी तो परमाणुओं की अवस्था है। वे निन्दा के शब्द तो तुमको यह कहते नहीं कि तुम द्वेष करो किन्तु अज्ञानी अपनी विपरीत मान्यता द्वारा 'मेरी निन्दा करता है' ऐसा मानकर अपने भाव में द्वेष करता है। किन्तु ज्ञानी को राग द्वेष करने का भाव नहीं होता तो फिर अन्य कौन करा सकता है ? ज्ञानी परवस्तु द्वारा रागद्वेष मोह होना नहीं मानता, अपनी निर्बलता से अल्प रागद्वेप होता है यह गौण बात है।

ज्ञानी जानता है कि निंदात्मक शब्दों के जड़ रजकण पुस्तक रूप होने वाले हों तो उनको कोई भी शक्ति नहीं रोक सकती। ऐसा जानने वाले के चाहे कितने ही परिषह आवो, तब वह क्षमा रखता है। और 'ज्ञाता रहूँ' यही मेरा सहज स्वरूप है, समतास्वरूप की स्थिरता बढ़ाने की उत्तम कसौटी का यह समय है, सामने वाले जीव मुझे दुःख देने में निमित्त होते हैं, ऐसा विचारकर वह उनसे द्वेष न करे किन्तु उनकी अज्ञान दशा देखकर करुणा करता है किन्तु किसी के प्रति द्वेष या क्रोध नहीं करता वह ऐसी समता रखता है।

जीव जब तक परवस्तु में कर्तृत्व-ममत्व मानता है और पर से भिन्नत्व नहीं समझता तब तक वह उसमें कर्त्तापने का अभिमान और रागद्वेष करेगा तथा पर का कर्त्ता भोक्ता हूँ ऐसी कल्पना करेगा। पर सम्बन्धी विचारा हुआ वैसा कभी होता नहीं और विपरीत मान्यता से रागद्वेष दूर नहीं होता। इसलिए सर्व-प्रथम निज-पर स्वरूप को जानो उसका अभ्यास, अध्ययन, श्रवण, मनन करो। सच्ची समझ विना मिथ्या खतौनी-विपरीत मान्यता होगी। लोग ऐसा सोचते हैं कि यह मेरा लड़का होकर, मेरा भाई होकर, सीमा से वाहर ऐसा अहित कैसे करे? किन्तु भाई! संसार का ऐसा ही नियम है यह कोई नवीनता नहीं है और अपना दुःख हटाने का सच्चा उपाय एकमात्र आत्मज्ञान है। लोकमें वाहरी वस्तुको इष्ट मानकर स्थिर रखने के लिए कितना उत्कृष्ट सावधान रहता है तो फिर जिसे सच्चे हित (आत्म-स्वरूप) की प्राप्ति हुई उसमें किसी भी प्रकार का विघ्न कैसे आने दे? नहीं ही आने दे।

अकषाय दृष्टि द्वारा कषाय दूर करने की यह भावना है। चाहे प्रतिकूल प्रसंग उपस्थित हों किन्तु उनके उपस्थित करने वालों के प्रति क्रोध नहीं क्षमा अर्थात् 'मैं अपनेको क्षमा करता हूँ'। वाह्य निमित्तको दूर करना नहीं है क्योंकि दूर करने से दूर होते नहीं किन्तु उनके सम्बन्ध का निर्दोष ज्ञान होता है अथवा रागद्वेष हो सकता है किन्तु निमित्तों को दूर करने की किसी की सामर्थ्य नहीं है किन्तु क्षमा वनाये रखनी यह अपने पुरुषार्थ के अधीन है, अज्ञानी पर निमित्तों को दूर करना चाहता है किन्तु उनका दूर होना जीव के अधीन नहीं है। इसलिए कोई पर में पुरुषार्थ नहीं कर सकता और उससे शान्ति नहीं

मिलती। धर्मात्मा निमित्त का लक्ष्य नहीं करता, वह स्वयं ही समता-भाव, क्षमा स्वभाव को धारण करता है।

विरोधी जीव को क्रोध करने से रोकना इस जीव के सामर्थ्य की बात नहीं है किन्तु अपने में सहज-स्वभाव में समता करूँ, यह मेरी स्वसत्ता की बात है। घाणी में पेलदे तो भी अशरीरीभाव बनाये रखने की बात है, उत्कृष्ट साधक दशा की भावना है, इसीलिए उत्कृष्ट परिषह की बात की है, यह सहज वीतराग दशा की भावना है। निर्ग्रंथ मुनिदशा में निरन्तर आत्म-समाधि जब होती है तब बाहर क्या होता है इसकी उन्हें सुध भी नहीं रहती। कौन बोले ? कौन सुने ? कौन समझावे ? ऐसी मध्यस्थ वीतराग भावना सच्चे स्वरूप की पहचान करने से होती है। पर निमित्त को दूर करना, रखना या उनमें मेल मिलाप करना या परिवर्तन करना चेतन के अधिकार में नहीं है, इसलिए उसका ऐसा निर्णय कर एक बार सच्चे अभिप्राय की स्वीकारता तो करो ? आत्मा की स्वाधीनता को स्वीकार कर मजबूती लाओ तो रागद्वेष करने का उपाधि भाव (बन्धभाव) पूर्णतया उड़ जायगा। जो कार्य आत्मा के हाथ है और करने योग्य है उसे ही करना, ज्ञानी का आशय है। अज्ञानी बाह्य संयोगों को दूर करना चाहता है और उससे रागद्वेष, मोह करता है किन्तु सम्यग्ज्ञानी धर्मात्मा मानता कि अपने आश्रित ज्ञान परिणमन है वह उसके द्वारा समता स्वभाव में परिणमता है इसलिए वह सहज ही रागद्वेष विषय-कषाय को जीतता है।

कभी घोर असाता के उदय में (जैसे शरीर को घाणी में पेल देने का) घोर उपसर्ग आवे तो भी ज्ञानी उस ज्ञेय सम्बन्धी राग-

द्वेष रहित ज्ञान करता है, वह उसे जानता अवश्य है किन्तु वह जानने में अटकता नहीं। जो परमाणु छूट जाते हैं वह उनका ज्ञान वर्तता है। जिसे आत्मा की श्रद्धा है वह उत्कृष्ट प्रतिकूल प्रसंगों में भी खेद नहीं करता, अंतरंग में क्षोभ नहीं करता, ऐसी उसके ज्ञान की दृढ़ता होती है। जब तक वह गृहस्थ अवस्था में है तथा पुरुषार्थ में निर्बल है तब तक ज्ञानी होते हुए भी थोड़ी अस्थिरता हो जाती है किन्तु अभिप्राय में वह अशरीरी वीतराग भाव का लक्ष्य है और उसे प्रकट करने की भावना करता है। पहले महान मुनिवर हो चुके हैं, वे चाहे जितने उग्र परिषह में भी अपूर्व समता-समाधि भाव की सहज शान्ति में झूलते हुए ज्ञान की रमणता में स्थिर रहे।

'देह पेली जाती है' ऐसे विकल्प को भी छोड़कर उन्होंने ज्ञानघन वीतराग दशा रखी। जिसमें रागद्वेषके विकल्पोंका प्रवेश न हो ऐसी अपूर्व साधक दशा शीघ्र आवे, ऐसी भावना वह रखता है। ऐसा धर्मात्मा गृहस्थाश्रम में था या आत्मा में ? स्वरूप की यथार्थ जागृति के भानद्वारा अपूर्वता का यह संदेश है, अंतरंग में आत्मबल द्वारा स्थिरता में अधिकता रहते और वीतराग स्वभाव को सिद्ध कर उसी रूप होने की भावना की गई है, ऐसी भावना करने वाले के निःशंक अभिप्राय में अपने आगे के भव का अभाव दिखता है।

गृहस्थ दशा में भी दृढ़तर सम्यक्त्व हो सकता है, इसका परिचय करे तो समझ में आवे। लोगों को बाह्य संयोग की सावधानी की ओर लक्ष्य रहता है कि ऐसे संयोग होना चाहिये और ऐसे नहीं चाहिये। ज्ञानी को ऐसा अभिप्राय नहीं होता अनुकूल-प्रतिकूल

संयोगों में ज्ञानी राग या द्वेष नहीं करता। यहाँ अशरीरी, अतीन्द्रिय, ज्ञान-आनन्दमय भाव की महिमा बताई है, 'धन्य हैं वे मुनिवर जो समभावी रहे।' जिसके अंतरंग में उत्कृष्ट साधक दशा की रुचि यथार्थ रूप से जमी हो उसकी ऐसी भावना होती है।

"वंदे चक्री तथापि न मले मान जो" छह खण्ड का अधिपति चक्रवर्ती महावैभवशाली होता है उसकी हजारों देव सेवा करते हैं वह ४८ हजार पाटण, ७२ हजार नगर, ९६ करोड़ पदातियों का स्वामी होता है।

ऐसा राजा वर्तमान में महाविदेह क्षेत्र में विद्यमान है, वहाँ सनातन जैन निर्ग्रंथ मुनि धर्म हमेशा रहता है। चक्रवर्ती सम्राट अपने विशाल वैभव के साथ मुनि की वन्दना करने के लिए आता है और परम विनय-वंदना पूर्वक उनकी स्तुति करता है "हे मुनिराज आप बहुत ही पवित्र अवस्था में हैं" और उनकी अत्यन्त विनय से वंदना करता है किन्तु मुनि को इससे मान का अंश भी नहीं होता। जिसको जो रुचे वही वह करे, इस न्याय के अनुसार गुण का आदर करने वाले के गुण रुचते हैं। वह उसके अपने ही कारण से है और यदि कभी निन्दा करनेवाले को दोष दिखाई पड़े तो वह भी उसी के कारण से है। इसलिए मुनि को पर के सम्बन्ध में कोई विकल्प नहीं है। जो चैतन्य आनन्द मूर्ति भगवान आत्मा में अपनी ज्ञानानन्द की सहज समता में महासुख मानकर पूर्ण स्थिरता में, एकाग्रता में स्थित है—उसे स्व-स्वरूप से बाहर निकलना कैसे रुचे? नहीं रुचे।

मुनि अवस्था में जो पवित्र दशा प्रत्यक्ष प्रकट होती है उस

उत्कृष्ट साधक दशा के प्रति इस गाथा में आदर व्यक्त किया गया है। वह दशा अपने वर्तमान में नहीं है इसलिए उसके प्रति अपनी रुचि व्यक्त की है। अपने में पात्रता है और उस दशा के प्रति आदर है इसलिए पूर्णता के लक्ष से यह भावना की गई है। जिसे यथार्थ स्वरूप की पहचान है ऐसा सम्यग्दृष्टि ऐसी भावना करता है।

"लही भव्यता मोटूं मान, कवण अभव्य त्रिभुवन अपमान" तीर्थंकर देव सर्वज्ञ भगवान की धर्म सभा में किसी जीव के लिए यह ध्वनित हो कि वह भव्य है तो उसके समान जगत में दूसरा क्या सम्मान होगा ? किसी जीव के लिए सहज वाणी में आया कि 'यह जीव अपात्र है' तो जगत में उससे अधिक भारी अपमान और क्या समझना चाहिए। साक्षात् सर्वज्ञ भगवान की वाणी किसी जीव विशेष को लक्ष्य कर कहे कि यह जीव सुपात्र है। अहो धन्य ! जगत में इससे अधिक भारी सम्मान और क्या ? जब गौतम स्वामी समवसरण (धर्म सभा में) प्रविष्ट हुए और मानस्थम्भ पारकर प्रभु (महावीर स्वामी) के सम्मुख गए कि प्रभु की दिव्य ध्वनि हुई "अहो ! गौतम भव्य है" ऐसा साक्षात् दिव्यध्वनि में प्रथम स्थान गौतम को मिला।

तीर्थंकर भगवान के केवलज्ञान प्रकट हुआ था तब भी ६६ दिन तक वाणी व्यक्त नहीं हुई। सर्वज्ञ भगवान तो वीतराग हैं उनके इच्छा नहीं है किन्तु भाषा रजकणों का प्राकृतिक योग ऐसा था कि लोकोत्तर पुण्यवान गणधर पदवी पाने योग्य जीव का उपादान जब तक प्रभु के सन्मुख नहीं होता तब तक तीर्थंकर भगवान की वाणी दूसरे को निमित्त नहीं हुई।

सौ इन्द्र, लाखों देव आदि असंख्यात प्राणी भगवान के दर्शन व वाणी सुनने के लिए आए, इन्द्र ने भी भगवान की भक्ति की किन्तु ६६ दिन तक भगवानकी वाणी नहीं खिरी और गौतमके सन्मुख आते ही दिव्यध्वनि व्यक्त हुई। उस समय भी गौतम को अपने बड़प्पन का अभिमान नहीं हुआ किन्तु वह प्रभु के सन्मुख दीनता एवं नम्रता से विनय पूर्वक झुक गया, मुनिपद की प्रतिज्ञा कर ध्यान में लीन हो गया और तुरन्त ही सातवीं अप्रमत्त भूमिका निर्विकल्प दशा और चौथा मनःपर्यय ज्ञान प्रकट हुए और उन्हें गणधर देव की पदवी मिली।

साक्षात् सर्वज्ञ परमात्मा से नीचली पदवी गणधर देव की है, ऐसी पदवी पाकर भी गौतम अत्यन्त निर्मानता से कहते हैं कि 'धन्य प्रभु' आपकी दिव्य वाणी का भी वन्दन करता हूँ, 'धन्य प्रभु! आपका वीतराग मार्ग। क्या पूछूँ ? सब समाधान हो गया धन्य प्रभु ! आपके अपूर्व उपकारी वचन सुनते ही भव्य जीवों के सम्पूर्ण सन्देह मिट जाते हैं।' और वे निरभिमान भाव से आत्मा में स्थिर हो जाते हैं। उस अनन्त उपकार का वाणी द्वारा क्या वर्णन करूँ ? गण-धर देव को ऐसी उत्कृष्ट साधक दशा है पांचवें ज्ञान (केवल) प्रकट करने का पुरुषार्थ है। ऐसी निर्मानी निर्ग्रंथ दशा का अपूर्व अवसर मुझे कब मिलेगा ? ऐसी भावना भाई गई है।

मोक्षमार्ग प्रकट करने वाला यह निर्ग्रंथ मार्ग ही है, अन्य नहीं है, चक्रवर्ती राजा, मुनि का बहुत सन्मान करते हैं, हजारों का जन-समूह अनेक राजा महाराजा सपरिवार आकर उनका दर्शन करते हैं किन्तु मुनि को उनका अभिमान नहीं होता, क्योंकि वे जानते हैं कि

आत्मा का मान शब्द या विकल्प से नहीं होता, वह तो अपने भाव का फल है। कोई निन्दा या स्तुति करे तो वह नामकर्म की प्रकृति है उससे मुझे हानि लाभ नहीं है ऐसा मानने वाले मुनिवर धन्य हैं।

"देह जाय पण माया थाय न रोम मां" साधक दशावाले मुनि पूर्ण शुद्धता के पुरुषार्थ में लीन रहते हैं, उस समय कभी देह नाश का प्रसंग आवे, कभी घोर परिषह का प्रसंग आवे तो भी वे देह के प्रति अंश मात्र भी ममता नहीं करते, वे पुरुषार्थ की स्थिरता से छूट कर रागद्वेष में नहीं अटकते; जहाँ सरल पुरुषार्थ हों उसमें कुटिलता नहीं होती, निराबाध पुरुषार्थ पूर्णता के लक्ष्य में चालू रहता है। उन्होंने पूर्ण केवलज्ञान ऊपर ही सुनिश्चल दृष्टि डाली है अर्थात् उसमें अपने पुरुषार्थ को लगा कर सतत, अबाध स्थिरता में लीन रहते हैं। इस बीच में यदि देह नाश का प्रसंग आ जाय तो भी पुरुषार्थ की गति नहीं बदलती, मोहभाव या माया का अंश भी नहीं आता, कभी भी पुरुषार्थ की वक्र गति नहीं होती। 'ऐसे वीतराग भाव का पुरुषार्थ जिस काल में प्रकट करूँगा वही स्वकाल धन्य है। ऐसी भावना यहाँ की गई है।

"देह नाश के समय भी मेरा अतीन्द्रिय पुरुषार्थ, सतत्-निराबाध रहो। देह का विकल्प भी नहीं रहे। कभी घोर उपसर्ग हो तो अपूर्व समाधिमरण (पण्डित मरण) की जागृति बढ़े, देह जाते हुए भी मेरे रोम में भी माया न हो। किसी भी काल में स्वभाव परिणति की गति विपरीत न हो। ऐसा अपूर्व अवसर कब आवेगा ? ऐसी यह भावना है।

"लोभ नहीं छो प्रबल सिद्धि निदान जो" वचन सिद्धि, अणिमा आदि लब्धि के प्रकट होने पर भी उन्हें उपयोग में लेने का

विकल्प भी नहीं आता। नवकोटि विशुद्ध ब्रह्मचर्य निष्परिग्रह, सत्य-व्रत, अहिंसा आदि संयम भावना गुण वीतरागता, समता बढ़ने पर महा पुण्यवन्त के—ऋद्धियाँ (वचनसिद्धि, अणिमा, महिमा आदि) प्रकट होती है, किन्तु ये सिद्धियाँ प्रकटी हैं या नहीं यह देखने के लिए उपयोग नहीं लगाऊँ ऐसी भावना है। मेरे में अनन्तसुख है, मैं स्वयं आनन्दघन सिद्ध हूँ, इसमें जड़ पुण्य की लब्धि का किसलिए विचार? अमृत जैसे उत्तम आहार का खाने वाला, मल (खाने) का विचार नहीं करता उसीप्रकार मुनिको पूर्ण शुद्ध आत्माके सिवाय अन्य रागादि करने का विचार नहीं होता। पूर्ण शुद्ध निजपद न प्रकटे तब तक एक समय भी प्रमाद में लिप्त होऊँ तो बहुत हानि है ऐसा जिसने जान लिया है और पूर्ण होने की दृढ़तर रुचि जिसकी बढ़ती जाती है वह अपने पुरुषार्थ को उपाधि में कैसे लगावे? नहीं ही लगावे। किसी मुनि के थूक या मूत्र में भी लब्धि होती है किन्तु वह पुण्य की लब्धि है या नहीं, इसका आत्मार्थी विचार नहीं करते। जहाँ पूर्ण निर्लोभ और वीतराग दशा का पुरुषार्थ दृढ़ है—वहाँ किसी पर निमित्त में अटकना नहीं बने; विशेप बलवान सिद्धि प्रकट होने पर भी उसके सम्बन्ध में विकल्प नहीं हो ऐसी स्थिरता का अपूर्व स्वसमाधि योग कब आवेगा? ऐसी यह भावना है ॥८॥

नग्न भाव, मुंडभाव सह अस्नानता,
अदंतधोवन आदि परम प्रसिद्ध जो।
केशरोम नख के अंगे शृंगार नहीं,
द्रव्य भाव संयम मय निर्ग्रंथ सिद्ध जो ॥९॥

वह अपूर्व अवसर धन्य है जब देह मात्र संयम के लिए ही हो, नग्न रहे वस्त्र नहीं, द्रव्य और भाव दोनों से नग्न निर्ग्रंथ हो, अंतरंग में देहादि की आसक्ति का अभाव—अनासक्ति और बाह्य में प्राकृतिक दिगम्बर देह भी विरागी अर्थात् जगत की लालसा का प्रतीक नहीं, देह के प्रति राग नहीं, इसलिए राग के निमित्त वस्त्र भी नहीं हो। जिसे शरीर की कुशलता के प्रति आसक्ति का भाव नहीं है, जो अशरीरी भाव में रहता है ऐसे मुनि के मात्र देह संयम हेतु ही होती है। २६ वें वर्ष में श्रीमद् ने ऐसी भावना भाई थी। हठ से कुछ नहीं होता किन्तु राग दूर करते ही बाह्य कृत्रिमता दूर हो जाती है। सर्व प्रथम उनकी दृष्टि से देह के प्रति ममत्त्व भाव दूर होता है। नग्न-भाव से, बाह्यांतर निर्ग्रंथता की भावना बढ़ाते हैं, ऐसी मुनि दशा द्रव्य–भावसे प्रकट करूँ कि मेरे अविकारी चैतन्य स्वरूप के–अंतरंग–पुण्य पाप नहीं, अस्थिरता भी नहीं, और बाह्य से वस्त्र भी नहीं, ऐसी साधक दशा विना मोक्षदशा नहीं प्रकटती। यहाँ आसक्ति का सर्वथा निरोध करने का दृढतर अभिप्राय प्रगट होता है।

१२ वीं गाथा तक मुनित्व की भावना की गई है कि मेरे पूर्ण स्वरूप में स्थिर रहने का उत्साह (स्वरूप में सावधानी) रहे किंतु उसमें असावधानी (प्रमाद) का अंश भी न हो।

प्रतिकूलता की अग्निरूप वासना में साधक को जलना नहीं है और अनुकूलता की बरफरूप आशा में गलना नहीं है, ऐसी अंतरंग में परमउदासीनता होनी चाहिए। ध्याता, ध्यान ध्येय का विकल्प छूटकर पूर्ण स्थिरता रहे ऐसी दशा कब आवेगी? ऐसी भावना है।

'मुंडभाव' अर्थात् मस्तक, दाढी आदि के केश बहु बढ़ाना

नहीं, कटवाने नहीं, (मुंडन दस प्रकार का होता है।) देह की आसक्ति का अभाव (अशरीरी भाव) जब होता है तब इन्द्रियाँ और विषय कषायों का मुंडन हो ही और वाह्यमें भी मुंडन हो, ऐसा ही निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध है। पाँच इन्द्रिय, चार कषाय और केश लुंचन (शरीर की शोभा का त्याग) यह दस प्रकार का मुंडन है पाँच इन्द्रियों का विषय सम्बन्धी राग द्वेष मोह की रुचि का नष्ट कर देना तथा क्रोध, मान, माया, लोभ को त्याग देना इस प्रकार कषाय भाव का मुंडन होने से विभाव फिर विकसित नहीं होते। उनका मूल से विनाश ही ऐसी भावना है। जहाँ निर्ग्रंथ साधक दशा हो वहाँ वाह्य से केश लुंचन का निमित्त कार्य भी अवश्य हो ऐसा सनातन नियम है। किन्तु काल की महिमा है कि वीतरागमार्ग से विपरीत वेषधारी साधु जगत में प्रकटे और वे कहते हैं कि "उस्तरे से वाल कटाओ, स्नान करो, वस्त्र पहनो।" किन्तु भाई रे ! जो सनातन निर्ग्रंथ मुनि धर्म है उसमें अपनी वुद्धि से अन्य विपरीत कथन करना या मिला देना अनन्त ज्ञानी से प्रतिकूल है। अपने से ऐसा पुरुषार्थ न हो सके यह वात अलग है और मान्यता ही विपरीत वनाना यह अलग वात है। यह त्रैकालिक नियम है कि मुनिधर्म निर्ग्रंथ ही होता है। वाह्य वस्त्रादि परिग्रह से रहित और अभ्यन्तर मिथ्यात्व, रागादि, कषाय से रहित इस प्रकार द्रव्य और भाव से अनासक्ति हो तव शरीर में नग्नत्व हो ही यह त्रैकालिक मार्ग है। किसी प्रकार के शस्त्र या अस्त्र विना हाथ द्वारा ही केश का लोचन करने का व्यवहार है, वाह्य निमित्त ऐसा ही होता है। त्रिकाल सर्वज्ञ के शासन की एक ही विधि है उसमें अन्य मार्ग कैसे हो सकता है ? अभिप्राय में भूल हो तव सारे तत्त्व की

हानि है, नव तत्त्व क्या है ? मोक्षमार्ग क्या है ? उसकी श्रद्धा बिना आगे बढ़ सके ऐसा कोई माने तो अनन्त ज्ञानियों से अधिक होना है। यदि कोई अपने वीतराग मार्ग मुनिधर्म में नहीं रह सकता हो तो यह कहे कि मैं नहीं रह सकता। जिनशासन का धर्म तो यही है। जो इसकी सच्ची प्ररूपणा करता है वह अविरोध मार्ग को बनाए रखता है किन्तु जो अपने मनमाने अभिप्राय जिन शासन धर्म के विरुद्ध प्रकट करे तो उसने सनातन मार्ग का विरोध किया है अथवा अपना ही विरोध किया है।

अनन्त ज्ञानियों ने जिस न्याय को कहा है उस न्याय का विचार किए बिना कोई उससे विपरीत अनुमान करे तो करो। किन्तु उससे सच्चे मार्ग को कोई बाधा नहीं आती। लोगों को शरीर के प्रति बहुत ममता है इसलिए अपनी बुराइयों को छिपाने के लिए कुतर्क करते हुए कहते हैं कि वस्त्र तो मुनि की शीत उष्ण से रक्षा करते हैं इसलिए वस्त्र संयम के साधक हैं इसलिये इस काल में ऐसा होना चाहिये ऐसा हमें लगता है; किन्तु जो मार्ग जिनेन्द्रदेव ने कहा है उसकी प्रतीति और यही नग्न निर्ग्रंथ साधक दशा है उसके बिना मोक्ष मार्ग नहीं है। चाहे स्वयं मुनिधर्म में न रह सके किन्तु सनातन वीतरागमार्ग की श्रद्धा और न्याय में अन्यथा नहीं मानना। उक्त प्रकार की साधक दशा ही मोक्ष का कारण है। पूर्ण शुद्ध आनन्दघन आत्मा को प्रकट करने का प्रयोग तीनों काल यही है, अन्य नहीं।

प्रश्न—देश काल के कारण उसमें कुछ परिवर्तन नहीं हो सकता क्या ?

उत्तर—नहीं क्योंकि:—

एक होय तीनों काल में परमारथका पंथ।

(आत्मसिद्धि पद ८६)

'मैं पूर्ण शुद्ध हूँ' यह निश्चय (परमार्थ) है और रागद्वेष दूर कर स्थिर होने का पुरुषार्थ ही ज्ञान की क्रिया का व्यवहार है। जब अन्तरग में विरक्ति हो तब बाह्य निमित्त भी तदनुकूल होते हैं। परम उपशम भाव, वैराग्य भाव वाले जीव के शरीर भी स्नानादि संस्कार रहित लूखा एवं विरक्त होता है यह प्राकृतिक निमित्त नैमित्तिक योग है। तीन काल में परमार्थ का एक ही मार्ग होता है। अनन्त काल पहले घी, गुड़ और आटा की सुखड़ी (एक गुजराती मिठाई) बनाते थे आज भी उन्हीं तीन वस्तुओं से सुखड़ी बनाते हैं किन्तु उनकी एवज में पेशाब, मिट्टी और बालू की सुखड़ी कोई नहीं बनाता। अनन्त काल पूर्व जिस प्रकार से जैसी सुखडी होती थी उसी प्रकार से तीन काल में होती है। किन्तु हां, पुराने घी, गुड़ और आटा का रस करने से मिठास सहज ही घट जाता है किन्तु उसकी जाति तो वैसी ही बनी रहती है, कोई इससे विपरीत कहे या माने तो जैसे वह मिथ्या है, उसी प्रकार सम्यग्दर्शन सम्यक्ज्ञान और राग रहित ज्ञान की स्थिरता रमणतारूप वीतराग चारित्र रूप मोक्षमार्ग त्रिकाल अबाधित एवं सनातन है। वीतराग दशा वाले साधक मुनि का दिगम्बर स्वरूप भेष तीनों काल में एक ही प्रकार का होता है उसका कोई अन्यरूप बताए तो वह मिथ्या है। २४६७ वर्ष पूर्व इस भरत क्षेत्र में मुनिधर्म ऐसा ही था, उस समय हजारों मुनियों के संघ थे। उस समय साक्षात् शुद्ध चिदानन्द, आनन्दघन चैतन्यमूर्ति, ज्ञान पुंज भगवान तीर्थंकर देव सर्वज्ञ प्रभु इसी क्षेत्र में विराजमान थे। उनके बाद कितने ही वर्षों

वाद १२ वर्षीय दुष्काल में वीतराग धर्म के नाम पर शिथिलाचारी धर्म चला वह अवसर्पिणी काल की महिमा है। उस काल का आकार सर्पवत् है। सर्प का शरीर पहले पुष्ट मोटा होता है, तथा पूंछ की तरफ पतला होता जाता है उसी प्रकार अवसर्पिणी में धर्म का प्रथम उन्नत काल होता है किन्तु वह काल की वृद्धि के साथ साथ धर्म का ह्रास होता है किन्तु सर्वथा अभाव नहीं होता। वर्तमान पञ्चम काल के अन्त तक चैतन्य शक्ति के विकास करने वालों की संख्या घटती जाती है किन्तु सर्वथा अभाव नहीं होता। यदि गृहस्थ हो तो पुरुषार्थ की मंदता हो किन्तु श्रद्धा में अर्थात् सच्चे अभिप्राय में मुनि तथा गृहस्थ के अन्तर नहीं होता, एक ही सनातन निर्ग्रंथ मार्ग की श्रद्धा होती है।

कोई कहे कि द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव वदले उसी प्रकार धर्म भी वदले तो वह वात झूठी है। सम्यक्दर्शन, सम्यक्ज्ञान, और सम्यक् चारित्र की एकता ही मोक्ष मार्ग है। स्वच्छन्द वृत्ति को कोई सुधरा हुआ माने तो न्याय नहीं है किन्तु कुतर्क एवं विपरीतता है। निर्ग्रन्थ मुनि धर्म न पाल सके तो अपने को गृहस्थ पद माने, गृहस्थ रहे किन्तु अभिप्राय में (श्रद्धा में) उल्टी मान्यता एवं विपरीत प्ररूपणा न करे। अपने को वीतराग का मार्ग समझ में न आवे या न रुचे उससे सनातन मार्ग को शिथिल नहीं वना लेना चाहिए। जैनधर्मानु-सार तीनों काल में नग्न दिगम्बर निर्ग्रन्थ दशा युक्त साधक अवस्था रूप मुनि मार्ग ही केवलज्ञान प्रकट करने का प्रयोग है। वर्तमान काल में पंच महाविदेह क्षेत्र में तो अन्य मार्ग नहीं है और इस क्षेत्र में भी मोक्षमार्ग का प्रयोग मंद हुआ इसलिए कोई मूल जैन धर्म को अन्य

प्रकार कहा जाता नहीं। सनातन मार्ग से विपरीत मानने में अपना ही भारी अहित है।

यहाँ 'मुंडभाव' का अर्थ मस्तक के बालों को हाथ से उत्पाटन करना है। भाव में शुद्धता यह 'लोंच' का निश्चय अर्थ है। मैं ज्ञानानन्द पवित्र शुद्ध वीतरागी हूँ ऐसी श्रद्धा, स्वानुभव (स्वसन्मुखता) आत्मा में विशेष स्थिरता होने से अशरीरी (निर्विकार) भाव रहता है तब सहज ही बाह्य अभ्यंतर निर्ग्रन्थपणा होता है।

'नग्नभाव, मुण्डभाव सह अस्नानता' मुनि अपने शरीर को जल से साफ नहीं करते, सन्त मुनियों का मार्ग अस्नान वाला ही है, वीतराग दशा का साधक जिनमुनि गीले वस्त्र से भी शरीर को साफ नहीं करता। स्नान श्रृंगार में गिना जाता है जो मुनिदशा में नहीं होता, अब कोई कहने लगे हैं कि थोड़ा पानी से स्नान करना ठीक है किन्तु ऐसा कहना अनुचित है। यथार्थ तत्त्व दृष्टि से, न्यायपूर्वक मुनि का मार्ग तीनों काल में नग्न ही होता है उसमें कोई अपवाद, शिथिलता —विपरीतता नहीं होती। लोकोत्तर मार्ग और अतीन्द्रिय साधक दशा के पुरुषार्थ की हद क्या है? आंतरिक अनुभव बिना उसकी जानकारी वैसे ही नहीं मिलती, जैसे विषय सेवी ब्रह्मचर्य का महत्व नहीं समझता।

विषय कषाय का कीड़ा शरीर को धोकर अच्छे वस्त्र पहनता है। जब कि वीतराग दशा को साधने वाला ब्रह्मचारी मुनि जीवन पर्यंत स्नान नहीं करता। निर्दोष मुद्रावाला मुनि बाह्य और अभ्यंतर से सुन्दर और पवित्र है। मुनि का लूखा विरागी शरीर को देखते हुए भी वह महान् पवित्रता की निधि हो ऐसी सौम्य मुख मुद्रा दिखती है।

स्नान करने का विकल्प भी उनके नहीं है। मृत्युशरीर की शोभा क्या? मल के ढेर के ऊपर शोभा करने की कोई इच्छा नहीं करता उसी प्रकार मुनि को शरीर की शोभा करने की इच्छा ही नहीं होती। साधारण बुद्धि वालों को ऐसा समझना असम्भव लगता है।

जैनधर्म वह लोकोत्तर मार्ग है जिसका परिचय किये विना वह समझ में नहीं आता, समझे विना कुतर्क से पार पड़े ऐसा नहीं है। छह खण्ड का स्वामी चक्रवर्ती भी राज्य छोड़कर नग्न मुनि होकर विहार करने लगता है, वह देहादि की ममता छोड़ कर वीतराग समाधि में स्थिर चैतन्य ज्ञानपिंड के सहज आनन्द में लीन हो जाता है, ज्ञान, ध्यान, वीतरागता में मस्त रहता है, क्षण क्षण में छठा ७ वां गुणस्थान पलटता रहता है, सातवें गुणस्थान में ध्याता, ध्यान और ध्येय का विकल्प छूट कर परम समता-समाधि में स्थिर होकर प्रस्तर की मूर्त्ति जैसा हो जाता है, (जैसे तपाए हुए शुद्ध सुवर्ण का ताजा लहलहाता ढेला ही पड़ा हो) तथा जैसे गंभीर महासागर में मध्यविंदु से लहरें उछलती हों वैसे ही एकाग्रता में-स्वरूप लीनता में ऐसा उग्र पुरुषार्थ उछलता है, ऐसा आभास होता है कि हमने केवलज्ञान प्राप्त किया या करने वाले हैं। ऐसी उत्कृष्ट दशा कैसी होगी, इसका विचार करे।

जैसे समुद्र में लहर अन्दर के मध्यविंदु से ही आती है वैसे ही चैतन्य भगवान आत्मा ज्ञान समुद्र है उसे किसी वाह्य सहायता की आवश्यकता नहीं किंतु अन्तर में से ही पुरुषार्थ प्रकट होता है। साधक ऐसी अप्रमत्त भूमिका में अपूर्व पुरुषार्थ सहित अपने स्वरूप के उत्साह में स्थिरता का उग्र प्रयत्न करता है। वह अवस्था

सहज आनन्द दशा है जब अनन्ती शुद्धि उज्ज्वलता बढाते हैं। उस दशा को देखना या बाह्य निमित्तों को ? देहाध्याससे रहित आत्मा का जो सनातन निर्ग्रंथ मुनि मार्ग है वही त्रिकाल वस्तु स्थिति है। साधारण बुद्धि वाले जीवों को लगता है कि यह तो प्राचीन युग की बातें हैं। परम पवित्र पुरुषार्थ इसी वीतराग साधक दशा की भूमिका में कैसा होता है इसका गंभीर आशय समझने की पात्रता होने पर जीव उसके बाह्य-अभ्यन्तर दोनों पहलू को विरोध रहित समझ लेता है। जमाना बदल गया और स्वच्छन्दी लोग वीतराग मार्ग से भिन्न मानने लगे। जैसे २ लोगों में आराम परस्ती और देह की ममता बढ़ती गई जैसे जैसे वीतराग जिनशासन के नाम पर स्वच्छन्द शिथिलाचार पनपा और उसका समर्थन करने के लिए मुनि अवस्था में वस्त्र पात्र आदि के परिग्रह का विस्तार हुआ। इस प्रकार मुनिधर्म को भी गृहस्थ जैसे मान बैठे। भगवान महावीर के पश्चात् किसी समय १२ वर्ष का दीर्घकालीन अकाल पड़ा तब शिथिलाचार पर मतभेद होने से दो पक्ष होगए।

यदि पक्षपात की बुद्धि छोड़कर मध्यस्थ भाव से तत्त्व का विचार किया जाय तो वस्तु स्थिति समझ में आजाती है। अन्य सभी पक्षों से विरोध भाव छोड़कर यथार्थ वीतराग स्वरूप की श्रद्धा की जावे तो मुनिधर्म दिगम्बर स्वरूप कैसा हो समझ में आ सकता है। दिगम्बर मुनि महावैराग्य स्वरूप उपशम समता आदि गुणों से विभूषित रहते हैं। जैसे अंगारे पर राख हो तो भले ही ऊपर से राख ही दिखाई पड़े किन्तु अन्दर अग्नि प्रज्वलित रहती है। उसी प्रकार ज्ञानी का शरीर भले ही लूखा-असुहावना लगे किंतु अन्तरंग

में महापवित्र, शांतिआनन्द का अनुभव स्वरूप चैतन्यमय निराकुलता का सुख वर्तता है। मुनि स्वरूप की समाधि में लीन रहते हुए चैतन्य ज्योति का अनुभव करते हुए अत्यन्त पवित्र, उज्ज्वलता युक्त और शांत एवं वीतरागी होते हैं। उनके बारम्बार छठे सातवें गुणस्थान का उतार चढ़ाव चलता रहता है। सम्पूर्ण वीतरागता की साधना ही अपूर्व मुनि अवस्था है। अन्तरंग बहिरंग निर्ग्रंथ मार्ग द्वारा ही केवलज्ञान प्राप्ति का प्रयोग चलता है।

कोई कहे कि मोक्ष तो आत्मा का होता है उसका वस्त्र त्याग से क्या सम्बन्ध ? चाहे जिस वेष में मुनि धर्म हो इसमें क्या बाधा है ? ऐसे कुतर्की को यह ज्ञात नहीं है कि छठे सातवें गुणस्थान की वीतराग दशा, (साधक मुनिमार्ग की स्थिति) उग्र पुरुषार्थ रूप उपादान की ऐसी तैयारी और ऐसी वैराग्यमय होती है अतः उनकी उसे समझ नहीं, इसलिए वह अन्यथा कल्पना करता है।

यदि कोई कहे कि शरीर की शोभा, लज्जा, निरोगता आदि राग कषाय पोषण करने के लिए वस्त्र नहीं रखते अपितु संयम के परिपालनार्थ ही वस्त्र पात्र रखते हैं तो उन्हें भी निर्ग्रंथ मार्ग की खबर नहीं है। इस गाथा में कहा गया है कि मुनि अवस्था में जीवन पर्यंत स्नान नहीं करना। जब मुनि होने की भावना में इतना बल है तब साक्षात् मुनि पद में तो चारित्र भी उग्र होता है वहाँ शरीर के प्रति अणु मात्र भी ममत्त्व नहीं है फिर देह की शोभा क्यों ? मुर्दे को संजाना, सन्मान करना क्या ?

मुनि के अचेतन ऐसे इस शरीर के प्रति राग नहीं होता; शरीर तो मृत ही है ऐसे अचेतन स्वभाव वाले देहादि के प्रति मुनि

उदासीन होते हैं। उन्हें देह के प्रति अंश मात्र भी राग या आसक्ति नहीं होती; इसलिए शरीर का शृंगार करूँ, उसे अच्छा रखूँ ऐसी इच्छा मुनि कैसे करेगा ? शरीर का स्नान तो शव को सजाने जैसा है। जगत में देहादि की व्याधि की आरोग्यता होने में आनन्द और सुख की कल्पना करते हैं किन्तु मुनि अशरीर ऐसे अतीन्द्रिय चैतन्य में समाधि द्वारा सहज आनन्द की निराबाध समता का अनुभव करता है। जो वीतराग दशा में रहते हैं वे केवलज्ञान को आमंत्रण करते हैं। देह रहे या न रहे, ऐसा विकल्प उन्हें नहीं होता। ऐसी यथार्थ मुनि दशा की भावना कौन नहीं भावे ? श्रीमद्जी ने अपने को जैसी स्थिति प्रगट करना है वैसी ही भावना की है, इस प्रकार उन्होंने वर्तमान में मुनित्व की तैयारी कर रखी है। इसलिए अगले भव बाद में साक्षात् सर्वज्ञ, तीर्थंकर आदि किसी महापुरुष के पास मुनि पद धारण करेंगे और जिनाज्ञा का आराधन करते हुए स्वरूप स्थिरता द्वारा अपने स्वरूप-मोक्ष-को प्राप्त करने वाले होंगे। वे इस निर्ग्रंथ दशा द्वारा जिनाज्ञा को विचारते हुए पूर्णता को प्राप्त होंगे।

कहा भी है :—

> अवश्य कर्मनो भोग जे, भोगव वो अवशेष रे;
> तेथी देह एक ज धारि ने, जाशुँ स्वरूप स्वदेश रे;
> धन्य रे दिवस आअहो !

सूक्ष्म रूप से अन्तरंग परिणामों का अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि अभी कुछ कर्म भोगने की योग्यता बाकी हैं इसलिये उन्हें क्षय करने के लिए एक भव और धारण करना पड़ेगा, ऐसी अन्तरंग

में प्रतीति कर ही श्रीमद् ने ऐसा कहा है। कोई ऐसी अपूर्वता का सन्देश लाओ तो सही ! अहो ! गृहस्थावस्था में भी अन्तरंग में केवल ज्ञान की झंकार और अति निकटता (समीपता) की साक्षी होती है, किसी को पूछने नहीं जाना पड़ता। लोग पक्षपात छोड़कर मध्यस्थता एवं न्याय से विचारें तभी ज्ञानी धर्मात्मा के हृदय को पहचान सकते हैं। 'धन्य रे दिवस आ अहो ! जागी रे शान्ति अपूर्व रे।' यह वाणी आत्मा को स्पर्श करके आई है इस भावना के बल से सच्चे अभिप्राय का अभ्यास और पुरुषार्थ बढ़ते हैं।

निर्ग्रंथ वीतराग मुनि दशा में अदंतधोवन, अस्नान, नग्न शरीर, वीतरागता आदि का होना सुप्रसिद्ध है। जिसे अपने अपरिमित ज्ञान स्वरूप में उत्कृष्ट वीर्य का अटूट विश्वास है उसका जीवन सहज ही प्राकृतिक होता है। उसके दाँत नहीं बिगड़ते हैं, उनमें दुर्गन्ध नहीं होती है। ऐसा महा ब्रह्मचारियों का शरीर शांत, सौम्य और परम वैराग्य रूप होता है। वे किसी भी समय छोटा सा वस्त्र भी नहीं रखते। 'अदंतधोवन' की स्थिति बनी रहती है। उनके नवकोटि विशुद्ध ब्रह्मचर्य, समिति, गुप्ति, पंचमहाव्रत आदि सहज ही होते हैं।

मुनि के शरीर को सुधारने, सम्हालने या शृंगार करने का भाव नहीं होता उनके वीतरागी आचरणमय संयम, ज्ञान स्वरूप की रमणता या एकाग्रता रहती है। अन्तरंग बहिरंग परिग्रह से रहित मुनि छठे-सातवें गुणस्थान में रहते हैं। उनके बाह्य या अभ्यन्तर कृत्रिमता से रहित ऐसी सहज निर्दोष निर्ग्रंथ दशा रहती है। मुनिपद अर्थात् निर्ग्रंथ मार्ग द्वारा केवल ज्ञान प्रकट करने का प्रयोग उसमें स्थिरता रूप चारित्र ही ज्ञान की क्रिया है।

इस वीतराग स्वरूप साधक की भूमिका में बाह्य में नग्न शरीर निर्ग्रंथ अवस्था ही सहज निमित्त हो, यह सनातन नियम है। श्रीमद् रायचन्द्र उस नियम को जानते थे इसीलिए गाथा में ही कहा कि :—

"क्यारे थइशुँ बाह्यांतर निर्ग्रंथ जो
सर्व सम्बन्धनुँ बन्धन तीक्ष्ण छेदीने
विचरशुँ कव महत्पुरुषने पंथ जो ।"

मात्र शरीर ही, संयम का हेतु हो ऐसी अवस्था महानपुरुष, पूर्ण निष्परिग्रही, नग्न दिगम्बर, भावलिंगी मुनि के ही होती है। मुनि अवस्था में अन्तरंग में रागद्वेषादि अज्ञान की ग्रन्थि नहीं होती ॥६॥

शत्रु मित्र प्रत्ये वर्ते समदर्शिता
मान अमाने वर्ते ते ज स्वभाव जो
जीवित के मरणे नहीं न्यूनाधिकता
भव मोक्षे पण शुद्ध वर्ते समभाव जो ॥अपूर्व॥१०॥

इस पद में मुनिपद के योग्य समताभाव की स्वाभाविक स्थिति बताई गई है। शत्रु या मित्र दोनों की आत्मा शक्ति रूपसे सिद्ध भगवान जैसी है इसलिए मैं किस पर राग या द्वेष करूँ। कोई बाँस से पीटने वाला मिले, वसूला से छेदने वाला मिले या कोई चन्दन लगाने वाला किन्तु उनमें किसी प्रकार की इष्ट या अनिष्ट की कल्पना नहीं है, ऐसी स्थिति इस पद में व्यक्त की गई है। कोई पूर्व कारण से शत्रु होकर इस शरीर पर उपसर्ग करे तो भी द्वेष नहीं है इसलिए

उसके वीतराग भाव हैं। कोई मित्र होकर शरीर की पूरी सम्हाल रखे, आदेश सुनते ही अनेक सुखसाधन जुटादे, बहुत विनय करे ऐसे मित्र के प्रति भी रागभाव नहीं हैं। इस प्रकार शत्रु मित्र के प्रति समभाव है। इसका यह अभिप्राय नहीं है कि दुर्जन को सज्जन माना जाय किन्तु ज्ञान में यह समझा जावे कि उसकी प्रकृति की मर्यादा ऐसी है, विषको विष जाने, क्रोधीको क्रोध प्रकृति वाला समझे, सज्जन को सज्जन जाने किन्तु दोनों समान गुण वाले हैं ऐसा न माने। जैसा है वैसा ही जाने किन्तु किसी से हर्ष शोक या इष्ट अनिष्टपना नहीं करे। इस प्रकार दोनों के प्रति समभाव प्राप्त कर आगे उत्कृष्टता प्राप्त करता है कि 'जीवित के मरणे नहीं न्यूनाधिकता, भवमोक्षे पण शुद्ध वर्ते समभाव जो' इस प्रकार एकधारा रूप समता भाव जीवन में आवे ऐसा अपूर्व अवसर कब आवे इसकी भावना की गई है।

'अवसर' शब्द का विश्लेषण है अव+सर=अव=निश्चय, सर=बाण, शुद्धनयरूपी धनुष्य और शुद्ध उपयोग की तीक्ष्णता का एकाग्रतारूपी बाण द्वारा सबही कर्म कलंकों का नाश हो जाय ऐसा अपूर्व अवसर जल्दी प्राप्त करने की भावना यहाँ की गई है।

देह दीर्घकाल तक रहे या अल्पकाल तक, दोनों समान हैं। जीवन और मृत्यु यह पुद्गलों के अनन्त रजकणों की अवस्था है, उसका मिलना, गलना या पृथक् होना पुद्गल के अधीन है, उसे आत्मा नहीं रख सकता। धर्मात्मा इस देह के छूटने के समय पर अपूर्व पुरुषार्थ से समाधि मरण पूर्वक शान्ति प्राप्त करता है। जगत में जैसे कुत्ता, बकरा, लट आदि पशु मरते हैं और उनका जीवन व्यर्थ जाता है उसी प्रकार धर्म रहित मनुष्यादि जीवों का जीवन व्यतीत होता है।

कोई कभी अधिक पुण्य वाला भी हो तो परमार्थ में उसकी कोई कीमत नहीं है किन्तु जिसे यथार्थ स्वरूप की प्रतीति है, मात्र जो मोक्षाभिलाषी है और जो स्वरूप के ज्ञान की कीमत जानता है वह स्वरूप की सावधानी से जागृत-सफल जीवन व्यतीत करता है। ज्ञानी धर्मात्मा अकषाय स्वरूप में उल्लासवन्त होता हुआ भी आयु पूर्ण होते समय अपूर्व समाधि मरण करने का उत्साह लाता है। देहायुष का अन्त निकट जानकर उसके अपूर्व भावना का उल्लास प्रस्फुटित होता है। बेहद श्रद्धा का पुरुषार्थ उसके स्वरूप की एकाग्रता में वर्तता है। देहका चाहे जो हो उसकी सम्हाल कौन रख सकता है? आयु पूरी होने पर जिस क्षेत्र में, जिस काल में, जिस प्रकार देह छूटना हो उसी प्रकार छूटना होगा। एक समय मात्र की भी देर नहीं होगी। कोई कहे आयु का ७ प्रकार से क्षय होता है। (किन्तु वह व्यवहार का कथन है) आयुकी स्थिति पूर्ण होने पर ७ कारणों में से कोई एक कारण उसके निमित्त होता है ऐसा नियम बताया है, किन्तु कोई किसी की आयु में कमती बढ़ती नहीं कर सकता।

प्रश्न—तो फिर किसी को मारने में पाप नहीं लगेगा क्योंकि जिलाना या मारना किसी के हाथ की बात नहीं है।

उत्तर—कोई किसी के मारने या जिलाने का कार्य नहीं कर सकता किन्तु जिलाने या मारने का भला बुरा भाव जीव कर सकता है। जीव या तो ज्ञान करे या अज्ञान या पुण्य पाप के भाव करे। जिलाने का राग पुण्य भाव है और मारने का भाव पाप भाव है। मैं पर का कुछ कर सकूँ ऐसा विपरीत भाव अज्ञान है।

ज्ञानी देह के वियोग को प्रत्यक्ष सामने देखता है इसलिए

उसके देह के चाहे जो हो जावे किन्तु उसके रखने या नहीं रखने की उसे इच्छा नहीं रहती। क्योंकि देह उसकी आयु की स्थिति अनुसार ही रहेगी इसलिए ज्ञानी को उसकी चिन्ता नहीं है।

[ता० ४-१२-३६]

आत्मज्ञान युक्त पूर्णता के लक्ष्य से स्वरूप स्थिरता की यह भावना है। शत्रु या मित्र, निंदक या वन्दक को समान समझने व जीवन मृत्यु तथा संसार मुक्ति को समान समझने के सम्बन्ध में शांति जिन स्तवन में कवि ने बताया है—

मान अपमान चित्त सम गणे सम गणे कनक पाषाण रे
वन्दक निंदक सम गणे ईस्यो होय तूं जाण रे
सर्व जगजंतुने सम गणे गणे तृण मणि भाव रे
मुक्ति संसार बेउ सम गणे मुणे भवजलनिधि नाव रे
शांति जिन एक मुज विनति ॥

शान्ति अर्थात् समता स्वभाव। हे! परमात्मा आपने सिद्ध स्वभाव प्रकट किया है। मैं भी आपके जैसा ही होने योग्य हूँ यह लक्ष्य में रखकर यहाँ श्रीमद् कहते हैं कि संसार और मुक्ति में भी समान दृष्टि रहे। यहाँ बेहद समतामय अखण्ड द्रव्यस्वभाव और वीतरागता बताई है। द्रव्य तो अनादि अनन्त हैं इसलिए बन्ध और मोक्ष ऐसी दो अवस्था के दो भेद की कल्पना में ज्ञानी अटकता नहीं है।

ज्ञानी को भव-संसार के प्रति खेद नहीं, एक दो भव बाकी हो या भव का अभाव किया उसमें संसारी और मुक्त अवस्था का शोक या हर्ष करने का समय नहीं, ऐसी अप्रमत्त भूमिका लेकर आगे क्षपक

श्रेणी में आरूढ हो, ऐसा वीतराग भाव (स्वसमय) कब आवेगा यह भावना यहाँ व्यक्त की है।

'सिद्ध समान सदा पद मेरो'। ज्ञानी स्वभाव में तो पूर्ण पवित्र शाश्वत चिद्घन हूँ किन्तु वर्तमान अवस्था में कमजोरी के कारण अस्थिरता रहती है।

छठे गुणस्थान से शुभ विकल्प व्यक्त अव्यक्त होते हैं उसमें मोक्ष की इच्छा का विकल्प रहता है, उस विकल्प को भी नष्ट कर ऐसी उत्कृष्ट दृढतर स्थिरता एकाग्रता करूँ कि केवलज्ञान की उत्कृष्ट पर्याय उघड जावे, ऐसा यहाँ कहा गया है। उसे पाने की योग्यता या उत्कृष्ट दशावाला समभाव हो वहाँ मोक्ष दशा प्रकटे ही। बन्ध और मोक्ष ये दो तो आत्मा की अवस्थायें हैं और आत्मा अविनाशी नित्य है। संसार पर्याय बन्धनरूप है। शुभ या अशुभ परिणाम भावबन्धरूप अवस्था है उसके अभाव की अपेक्षा मोक्ष कहा जाता है। संसार और मुक्ति पर्याय दृष्टि से पर निमित्त की अपेक्षा दो भङ्ग हैं। आत्मा उस दो भङ्ग जितना नहीं है क्योंकि आत्मा निमित्त की अपेक्षा रहित नित्य एकरूप है। आत्मभान पूर्वक चारित्र दोष टालने के लिए उग्र पुरुषार्थ की भावना से उग्र निर्जरा भाव का वर्णन इस पद में किया गया है।

एकाकी विचरतो वली स्मशानमाँ,
वली पर्वतमाँ बाघ सिंह संयोग जो।
अडोल आसन ने मनमाँ नहि क्षोभता,
परम मित्रनो जाणे पाम्या योग जो ॥अपूर्व०॥११॥

गृहस्थाश्रम में होते हुए भी श्रीमद् रायचन्द्र कितनी उत्कृष्ट

भावना करते थे। उनके अन्तरंग में पवित्र उदासीनता, निवृत्तिभाव, मोक्षस्वरूप को प्राप्त करने का उत्साह जागृत होता है। वह निर्ग्रंथ साधक दशा धन्य है, जो महात्म्य करने योग्य है।

श्मशान, जङ्गल, पहाड़, गुफा आदि स्थानों में जहाँ सिंह आदि रहते हैं, एकाकी रूप से विचर सके ऐसी महा पवित्र दशा धन्य है। वे मुनिवर भी धन्य हैं जो ऐसे शांत, एकांतक्षेत्र में एकत्व दशा की साधना करते हैं। किसी पर्वत की गुफा में या शिखर पर रहकर बेहद आनन्दघन स्वभाव की मस्ती में लीन होकर जाग्रत ज्ञानदशा की एकाग्रता द्वारा केवलज्ञान शक्ति को प्रकट करूँ या एकांत निर्जन वन में नग्न निर्ग्रंथ मुनि बनकर, सहज स्वरूप में मग्न होकर पूर्ण पद प्रकट करूँ ऐसी पूर्ण पवित्रदशा कब आवेगी, यही भावना प्रस्तुत पद में की गई है।

जहाँ सिंह और बाघ गर्जन करते हैं, जहाँ साधारण जीव काँप उठे—ऐसे वन क्षेत्र में शांत एकाकी, निस्संग परिणाम वाले, महा वैराग्यवान, उपशम समता की मूर्ति, चैतन्य ज्योति स्वरूप बनकर आनन्दमय सहज समाधि में लीन हो जाऊँ ऐसा अपूर्व अवसर कब आवेगा।

जिनके अन्तरंग अभिप्राय में अशरीर चैतन्य भाव वर्तता है और वर्तमान चरित्र में कुछ अपरिपक्वता होने से जङ्गल की एकांत स्थिति का विकल्प आता है और उत्कृष्ट साधकदशा की भावना है इसलिए उसे पूर्ण करने के लिए सिंहों के रहने वाले घने जङ्गल, पर्वत की गुफा या एकांत स्थान में जाकर निश्चल आसन लगाऊँ और बाह्य व अन्तरंग में अक्षोभता रखूं ऐसा चिंतवन करता है। उनके क्षोभ

रहित परिणाम सहज ही होते हैं। शरीर स्थिर रहे या न रहे यह भिन्न वात है क्योंकि वह आत्मा के आधीन नहीं है किंतु अन्तरंग में वीतरागमय निश्चल, स्थिरस्वभाव की एकाग्रता बढ़ती जाती है, ऐसी स्वरूप जागृति की स्थिति में सिंह आकर क्या करे ? यह शरीर तो मुझे नहीं चाहिये इसलिए उसे लेने के लिए आने वाले अर्थात् उसकी निवृत्ति करानेवाला उपकारी वह मित्र है ऐसी भावना का उत्साह ऐसे साधक को ही आता है।

कोई वाह्य साधना का पक्ष करता है किन्तु यहाँ तो पूर्ण स्वरूप के उत्साह की भावना है। जो आत्मा से हो सके ऐसी ज्ञान-क्रिया या स्वरूप में रमणता (जिन स्वरूप) का विचार है। इस प्रकार के अडिग निश्चल, असीम विश्वास की स्वीकारता तो करो। कभी सिंह शरीर के टुकड़े भी करदे तो भी क्षोभ न हो। यह भावना विवेक सहित है—मूढतायुक्त नहीं है। लोग हठयोगरूप मन की वाह्य स्थिरता से मूढ जैसे वनते हैं, उनकी यह वात नहीं है। यहाँ तो असली साधक दशा की भावना है।

कहा भी है कि "ऋषभ जिनेश्वर म्हारो रे, और न चाहुँ रे कंथ, रीझ्यो साहेब संग न परिहरे रे भांगे सादि अनन्त।" इस प्रकार अखण्ड वीतराग दशा की भावना की गई है। इससे आगे बढ़कर अपनी शुद्ध चेतना सखी को कहते हैं कि "चलो सखी वहाँ जइअे जहाँ अपना नहीं कोई, माटी खाय जनावरा मुवाँ न रोवे कोई।" देह का चाहे जो हो किन्तु अखण्ड समाधि का मङ्गल उत्सव हो ऐसी स्वरूप की सावधानी, निःशंकता, निर्भयता कैसे आवे ? ऐसी भावना यहाँ की गई है।

जैसे राज महल में राजा निर्भय होकर सोता है उसी प्रकार मुनिराज बाह्याभ्यंतर निर्ग्रंथ दिगम्बर दशा में पर्वत, वन, क्षेत्र में जहाँ सिंह बाघ रहते हों वहाँ बाह्य अभ्यंतर असंग, एकत्व दशा साधते हैं और ध्यान में निश्चल रहकर स्वरूप मस्ती में सहजआनन्द की रमणता में रहते हैं। जैसे स्वच्छ जल से भरा हुआ सरोवर हवा न चलती हो तब, स्थिर दिखता है उस समय वह पूर्ण चन्द्र के बिम्ब से विशेष उज्ज्वल दीखता है उसी प्रकार मुनिराज शांत, धीर, गम्भीर, उज्ज्वल समाधि में मस्त रहकर मानो कि अभी केवलज्ञान प्राप्त किया या करूं। ऐसे बेहद पूर्ण स्वभाव में दृष्टि लगाकर एकाग्र होता है, ऐसी अवस्था में कभी बाघ अथवा सिंह भूख से गर्जना करता आवे तो भी यह जाने कि परम मित्र का योग मिला क्योंकि जिस शरीर की आवश्यकता नहीं है और जो शरीर को अपना नहीं मानता है उस पुरुष का शरीर को लेजाने वाला मित्र है। देह से मेरे दर्शन, ज्ञान चारित्र का लाभ या नुकसान नहीं है। समयसार में कहा है कि यह शरीर छेदा जाय, भेदा जाय या कोई इसे ले जाए या इसे नष्ट करदे या इसका चाहे जो कुछ हो किन्तु देह मेरा नहीं है। शरीर के प्रति जिसे अणुमात्र भी ममत्व नहीं है ऐसी अशरीरी भावना में रहने वाले धर्मात्मा का भाव कितना उत्कृष्ट होता है यह देखो तो सही! ऐसे समय श्रीमद् जवाहरात के व्यापार में थे या आत्मा में?

जिस समय इस काव्य की रचना की उस समय श्रीमद् के बम्बई में जवाहरात का व्यापार आदि का बाह्य में व्यवसाय था किंतु फिर भी सब परिग्रह से निवृत्त होने और उत्कृष्ट साधक दशा भावना भाते थे। इस काव्य का एक एक शब्द गम्भीर भावार्थ युक्त है। वे

महावैराग्यवान थे और पुरुषार्थ द्वारा मोक्ष स्वभाव दशा प्रकट करूं ऐसी भावना सहित आंशिक स्वरूपकी स्थिरता की सावधानी रखकर मुनित्व की भावना यहाँ की गई है इसीलिए श्रीमद् कहते हैं कि इस शरीर की स्थिति पूरी होने ही वाली है उसमें निमित्त होने वाले वाघ सिंह का संयोग मित्र समान है। लोक संसार प्रवृत्ति से अमुक समय तक निवृत्ति लेकर सत्समागम, सत्शास्त्र के अध्ययन, श्रवण, मनन या श्रवण की रुचि न करे तो उनको इस जात की भावना का अंश भी कहाँ से आवे ?

श्रीमद् रायचन्द्र गृहस्थवेश में होते हुए भी वीतरागी मुनित्व की दशा प्राप्त हो ऐसी भावना भाते थे। मैं जङ्गल में बैठा होऊँ और हरिण मेरे शरीर को लकड़ी का ठूंठ समझ कर उससे अपने शरीर की खाज खुजावे ऐसी स्थिरता कब आवेगी। बाह्य से योग हो या न हो वह उदयाधीन है किन्तु इस अशरीरी भाव की स्वीकारता तो लावो। पुरुषार्थ करना उदयाधीन नहीं है, किन्तु अपने अधीन है। ऐसी उत्कृष्ट भावना का उत्साह धर्मात्मा को आता ही है।

संसारी जीवों को बाह्य संयोग, उपाधिरूप वैभव का उत्साह रहता है कि मेरे बङ्गला हो, मेरे टेबिल, कुर्सी, गद्दी, तकिया पंखा वगैरह हो। उनमें मोहाभिभूत होकर हर्ष अनुभव हो ऐसी विपरीत भावना वे करते रहते हैं। क्योंकि उनके संसार का ही अपार प्रेमतृष्णा भाव रहता है। जो परवस्तु में सुखबुद्धि करने और रागी द्वेषी बनने में ही संतोष मानता हो उसके राग रहित, पवित्रआत्मा की रुचि, श्रद्धा कैसे हो ?

एक बार एक भाई श्रीमद् के पास गया। उनके सम्मुख गद्दी

पर बैठ कर उसने बीड़ी पीते पीते उनसे पूछा आप ज्ञानी हैं इसलिए बताइये कि मोक्ष कैसे मिले" श्रीमद् ने उसे उत्तर दिया कि "ऐसे को ऐसा।" इस उत्तर से दो अभिप्राय प्रकट होते हैं (१) आप जैसे हैं वैसे हो जावो (स्थिर हो जाओ।) (२) यह भी अभिप्राय है कि तत्त्व की रुचि के विना ज्ञानी के प्रति प्रेम, विनय या बहुमान नहीं होता। शरीर के प्रति आसक्ति रखने वाले, पर से सुख मानने वाले व विषय कषाय युक्त संसारी रुचि वाले जीवों को मोक्ष की रुचि कैसे हो ? राग द्वेष तथा देहादि से सर्वथा छूटना मोक्ष है। त्याग वैराग्य की भावना बिना तथा देहादि के प्रति ममता या आसक्ति की कमी किये विना कोई शुद्ध आत्मा को देखना चाहे तो कैसे मिले ? जिसे आत्मभान न हो और शरीर का क्षेम कुशल रखने की ममता है उसको राग रहित अतीन्द्रिय आत्मा की श्रद्धा कैसे हो ? इसलिए देह की ममता पहले घटानी चाहिए।

श्रीमद् ने इस गाथा में शरीर को छोड़ने की—अशरीर होने की भावना का वर्णन किया है 'उन्होंने कहा है कि सिंह का संयोग होने पर ऐसा मानना चाहिए कि "परम मित्रनो जाणे पाम्या योग जो।" (मानो परम मित्र का संयोग मिला हो)। मेरे तो शरीर रखने की इच्छा नहीं और सिंह को शरीर रखने की इच्छा है। मुझे शरीर के प्रति ममत्व नहीं है आवश्यकता नहीं है यह रहस्य तूं (सिंह) कैसे समझ गया ? ऐसा समझ कर इस शरीर का नाश करने वाला (मृतक की उपाधि का नाश करने वाला) सिंह ! तू ही मेरा उपकारी है। श्रीमद् अशरीरी भाव की भावना संसारी वेश में रहते हुए भी करते थे। केवलदर्शन, केवलज्ञान प्रकट करने का प्रयोग विचारते थे। और

भावना करते थे। उनकी भावना थी कि ऐसा प्रसंग मिले कि गज कुमार की तरह मुझे भी शीघ्र मोक्ष स्वभाव प्रकट हो। इस रुचि का रसिक पूर्ण वीतराग स्वरूप की भावना करता है जबकि संसारी रुचि वाला मोही जीव विपरीत मनोरथ करता है कि मुझे खूब धन, घर, स्त्री, खेत गाड़ी आदि मिले, मेरे धन वैभव, परिवार खूब बढ़े। और मैं लहलहाते, भरे पूरे खेत आदि को छोड़कर मरूँ। इसके विपरीत ज्ञानी धर्मात्मा यह भावना करता है कि मैं अतिशय शुद्ध स्वभाव में स्थिर रहते हुए उग्र पुरुपार्थ करता हुआ दो घड़ी में केवलज्ञान प्रकट करूँ।

मुनि जङ्गल में आत्म स्वरूप के ध्यान में लीन हो और उस समय सिंह उनका गला पकड़े, उस समय केवलज्ञान पर दृष्टि रखते हुए चैतन्य का अतीन्द्रिय असीम पुरुषार्थ प्रकट होता है। सिंह के मुख में चैतन्य कैसे पकड़ा जाय। चैतन्य तो जो कुछ होता है उसको जानता है। इसीलिए श्रीमद् ने कहा कि 'सिंहे पकड्युं गलुं त्यारे ज्ञानी ए पकड़ी अडोल स्थिरता।" श्रीमद् ने संसारी वेप में ऐसी भावना की कि कब मैं क्षपक श्रेणी चढ़कर अन्तर्मुहूर्त में केवलज्ञान प्रकट करूँ। इस प्रकार का अपूर्व भाव कोई लावो तो ? ॥११॥

अतीन्द्रिय आनन्द में लीनता का रसास्वाद–अनुभव बढ़ने पर शुभाशुभ इच्छाओं का निरोध होता है क्योंकि कहा है कि 'इच्छा निरोधः तपः' इस प्रकार श्रीमद् तपश्चर्या में भी उत्कृष्टता दर्शाते हैं :—

घोर तपश्चर्यामां पण मन ने ताप नहीं,
सरस अन्ने नहीं मन ने प्रसन्न भाव जो ॥

रजकण के रिद्धि वैमानिक देवनी।
सर्वे मान्या पुदगल एक स्वभाव जो ।।अ० १२।।

स्वरूप रमणता में प्रवर्तमान साधक जीव को उग्र पुरुषार्थ के वढ़ने पर निर्ग्रंथ मुनि अवस्थामें कभी २ ऐसा अवसर आता है कि दो महीनों तक अनाहारक स्थिति रहती है। कभी ६ महिना भी आहार छूट जाता है किन्तु मन में किसी प्रकार का ताप नहीं है, शरीर के कृश होने की ग्लानि नहीं, खेद नहीं, किन्तु निश्चल समता की वृद्धि होती रहती है। सहज आनन्दसागर दशा में झूलते हुए खेद का अंश भी कैसे हो ? ऐसी साधक दशा को धन्य है।

संसारी जीव मोक्ष चाहते हैं किन्तु एक दिवस भूखे रहने का अवसर आजाय तो कँपकँपी होती है और खाने पीने की लोलुपता के वश होकर आगे पीछे की तैयारी करने में अनेक प्रकार का नाटक करता है। जब मुनि आत्मा के भान सहित स्वरूप में लीनता में सावधान रहता है तब कभी छः छः माह कैसे पूर्ण हुए, इनके स्मरण करने की वृत्ति उसके नहीं रहती।

स्वरूप में निश्चल रहने में एक क्षण मात्र का विराम न होने दूँ, ऐसी जिसकी भावना है ऐसे महर्षियों में श्रेष्ठ तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव थे। बैशाख शुक्ला ३ को वे संसार छोड़ कर निष्परिग्रही बनकर जंगल में चले गए थे। दीक्षा के समय में उनके चौथा मनः पर्ययज्ञान प्रकट हुआ जो कि उसी भवमें मोक्ष जाना है। अकषायी स्थिरता का अभ्यास बढ़ते हुए उनके विकल्प हुआ कि छः महिना आहार न लेऊँ। छः माह पूरे होने पर उनके आहार लेने की वृत्ति

उठी किन्तु आहार का योग नहीं बना। फिर छः माह तक आहार का अन्तराय रहा इससे पुनः छः माह आहार नहीं मिला किन्तु इस-का उन्हें खेद नहीं था, इसप्रकार वे आहार बिना बारह महीने तक रहे। ऐसे वीर, धीर, शूरवीर मुनिधर्म के पालन में सावधान रहते हैं। ज्ञान दशा तीनों काल में ऐसी ही होती है। कोई शिथिलता की बात करे तो वह मोक्षमार्ग में नहीं है क्योंकि आत्मा में असीम-अनन्त शक्ति है वह कभी घटती नहीं है। ३६० दिन तक चारों प्रकार के आहार बिना उपवास की स्थिति में घोर तपश्चर्या में किसी मुनि को शरीर कमजोर भी दिखे किन्तु शरीर अस्थिपंजर मात्र रहते हुए अन्तर में चैतन्य भगवान असीम समता से तृप्त है। मेरे जड़ की खुराक नहीं है, शरीर की स्थिति जैसी रहनी हो वैसी ही रहे ऐसा वह जानता है। मुनि के असाता का उदय हो तो भूख लगे और साता का उदय हो तो आहार मिले, उदय न हो तो नहीं मिले किन्तु मन में दुख नहीं है। जिसे शरीर की अधिक आसक्ति है वे ऐसा सुनते ही काँपते हैं किन्तु जिसे इस दशा की तैयारी हो उसके असीम सामर्थ्य तैयार रहती है पीछे वैसा योग बने या न बने यह अलग बात है किन्तु भावना हल्की कैसे हो? आत्मा अन्तरंग में असीम सामर्थ्य से प्रत्येक समय परिपूर्ण रहता है इसलिये उसकी भावना भी उत्कृष्ट ही होनी चाहिए।

संसारी जीव ममता के वश होकर पूर्णता की इच्छा करते हैं और इसी लिए विवाह के गीतों में गाया जाता है कि 'मैं तो थाल भर्यो सग (परिपूर्ण) मोतीए' चाहे थाल का ठिकाणा नहीं हो, चाहे उसमें एक भी मोती नहीं किन्तु मनोरथ तो मोतियों से परिपूर्ण

थाल का ही है। इस प्रकार ममता की शिखा में भी पूर्णता चाहती है अधूरापन नहीं। जीव विपरीत होकर विपरीतता की उत्कृष्टता चाहता है इसलिए वह अनन्ती तृष्णा द्वारा अपने को पूर्ण करना चाहता है। उसी प्रकार मोक्ष का इच्छुक, संसार भाव से पलट कर सबल बना और उससे पूर्ण समता की यह भावना करता है कि "सिद्धा सिद्धिं मम दिसंतु।" समतावान भावना करता है कि मेरा पूर्ण शुद्ध स्वरूप शीघ्र प्रकट हो। यह भावना अखण्ड रूप से जहाँ हो वहाँ वह भावना संसार के भाव को नहीं रहने दे। जहाँ अनाहारक चैतन्य की रमणता में बेहद पुरुपार्थ का उद्यम हो वहाँ ऐसी अपूर्व दशा का अंश प्रकट कर धर्मात्मा उसी भावना में रहता है। उत्कृष्ट साधक दशा का उत्कृष्ट पुरुपार्थ पूर्ण होने पर सादि अनन्तकाल पर्यंत शाश्वत निराकुल अनन्त सुख रहता है। अज्ञानी जीव मुनि अवस्था में घोर परिपह की बात सुनकर व्याकुल होते हैं जब कि धर्मात्मा-सम्यग्दृष्टि वैसे घोर तप और परिपह के सम्मुख कहता है कि मेरे में अनन्त शक्ति है एक समय की अवस्था में भी अनन्त समता भरी हुई है। अनन्त काल भी आहार नहीं मिले तो ज्ञातारूप में स्थिर रहने का अनन्त सामर्थ्य चैतन्य में है। स्वभाव की क्या सीमा? जिसका अनन्त स्वभाव हो उसमें सीमा नहीं हो।

चैतन्य अनादि अनन्त असीम सामर्थ्य से पूर्ण ज्ञानघन है। मैं शरीर नहीं हूँ, उस शरीर के कारण मुझे किसी प्रकार का नफा-नुकसान नहीं है। घोर तपस्या से शरीर जीर्ण हो गया हो जैसे सूखे कोयले अथवा लकड़ी गाड़ी में भरे हो और वे खड़खड़ाएँ वैसे ही छह छह महिने उपवास सहज ही हो जाने पर शरीर की हड्डियाँ बजने

लगे ऐसी भावना श्रीमद् संसार में रहते हुए करते थे। यह भावना करते हुए वे भोजन करते थे या तपस्या करते थे? वास्तव में यह भावना सच्ची दृष्टि पूर्वक श्रावक अवस्था में की जानी चाहिए। भावना उत्कृष्ट रूप में करनी चाहिए। 'अपूर्व अवसर' पुरुषार्थ से सुलभ होता है और वेहद चैतन्य शक्ति का अनुभव बढ़ने पर अपनी शक्ति को जीव छिपाता नहीं।

'सरस अन्ने नहीं मन ने प्रसन्न भाव जो' मेरे में ही अनन्ती तृप्ति है तो फिर किससे तृप्त होऊँ? मुनि को किसी समय आहार की वृत्ति आई और चक्रवर्ती राजा के यहाँ से उनको आहार दान प्राप्त हुआ जिसमें पुष्ट और सुन्दर आहार मिला किन्तु उनसे प्रसन्नता का विकल्प नहीं है। ऐसी उत्कृष्ट समभावी दशा मुनि के सहज ही होती है। चक्रवर्ती राजा का खीर का अति उत्तम भोजन होता है कभी उस आहार को लेने का योग बने तो उसमें ज्ञानमस्त मुनि को प्रसन्नता का भाव नहीं आता। शरीर को आहार की प्राप्ति उदयाधीन अर्थात् प्रारब्ध अनुसार होती है। साता का उदय हो और शरीर रहना हो तो आहार मिले ही उसमें हर्ष कौन करे? अन्तरंग में परम संतोषामृत का स्वाद होने से मुनि को आहार के प्रति ऐसा राग नहीं है। जिसे विषय, कषाय और आहार की लोलुपता है उसके हाफुस आम चिरते हुए देखकर मुँह से लार टपकती है और उसका स्वाद लेने के लिए व्याकुल होता है और वह खाते समय हर्ष मनाता है। जब निर्ग्रंथ मुनि को छह छह माह के उपवास के पारणे में संयम के हेतु स्वरूप निर्दोष आहार की इच्छा हो तब आहार सरस मिले या नीरस किन्तु उसमें प्रसन्न या खेदखिन्न नहीं हो। जिसे देहादि में सुख बुद्धि है ऐसे

संसारी जीव को आहारादि में गृद्धता होने से सरस भोजन की होश होती है। मुनि तो ऐसी भावना करता है कि मेरे अनाहारक स्वभावमें ज्ञान की स्थिरता के सिवाय कुछ भी उपाधिभाव नहीं चाहिये। मेरे स्वरूप की रमणतामें, शांतिमें इस क्षुधा की पीड़ा का विकल्प कैसा? सब छूट जाओ। मैं असंग हूँ इसलिए समाधिस्थ, स्वरूप स्थिरता-रमणता का अपूर्व अवसर कब आवेगा? ऐसी भावना यहाँ की है।

"रजकण के ऋद्धि वैमानिक देवनी,
सर्वे मान्या पुद्गल एक स्वभाव जो।"

अतिमलिन एक रजकण से लेकर पुण्य में उत्कृष्ट वैमानिक देव की ऋद्धि तक सब पुद्गल की विकारी पर्याय है वे मेरे चैतन्य का लाभ करने वाली नहीं है। वैमानिक देव के पुण्य की ऋद्धि, सूर्य चन्द्र आदि देवों की पुण्य की ऋद्धिसे बहुत अधिक होती है, उसका वर्णन शास्त्र में है। वहाँ अति उज्ज्वल अत्यधिक पुण्य के समूह का योग है। उनसे भी अधिक पुण्य के कर्मरजकणों का योग हो तो भी मुनि को उनकी महिमा नहीं है।—क्योंकि वह तो ज्ञाता रहकर जानता है कि पुद्गल की अनेक विचित्रता से चैतन्य का अंश मात्र भी गुण नहीं है। उनमें राग द्वारा मैं अटकूँ तो मेरे उपाधि का बन्धन हो। अपना जो अनन्त सुख स्वरूप लक्ष में है उसे पूर्ण करने का पुरुषार्थ बढ़ाने और स्वरूप प्रकट करने का उत्साह रहता है किसी निमित्त में अटकने का भाव उनके नहीं है। इस १२ वीं गाथा पर्यंत चारित्र मोह को क्षय करने की भावना है।

अब शेष नौ गाथाओं में सूक्ष्म चर्चा है। एक एक शब्द ऊपर विस्तार करने से दिवस बीत जायें इसलिए संक्षेप में कथन करना

पड़ता है; उसमें जो आशय हो उसको विचारना चाहिए। अहा! सर्वथा कषायक्षय की चर्चा आने वाली है। इस काल में इस क्षेत्र में मोक्ष प्राप्ति नहीं है किन्तु फिर भी १२ वीं गाथा में वर्णित सातवें गुण-स्थान का पुरुषार्थ अर्थात् चारित्र प्रकट करे तो हो सके ऐसा समय तो है।

आगे की नौ गाथाओं में वर्णित क्षपक श्रेणि, शुक्ल ध्यान का पुरुषार्थ इस काल में नहीं है तो भी भावना तो भाई जा सकती है। प्रथम आत्मा की सच्ची पहचान और श्रद्धा को दृढ़तर करने का पुरुषार्थ और अभ्यास करना चाहिए। सत्समागम विना अपूर्व अवसर की प्राप्ति नहीं होती। जैसे सेना में नौकरी करनी हो तो उसे सर्व प्रथम निशाने बाजी सीखने का अभ्यास करना पड़ता है और वह अभ्यास मौके पर काम आता है उसी प्रकार धर्मात्मा मुमुक्षु को प्रारम्भ से ही तत्त्वज्ञान के अभ्यासपूर्वक अपूर्व अवसर की भावना में लीन होना चाहिए।

सम्यग्दर्शन होने के बाद मुमुक्षु को चारित्र की भावना दृढ़ता पूर्वक बढ़ती जाती है—और अनाहारक, अशरीरी कैसे होऊँ यह विचार आता है। बहुत से लोग मानते हैं कि आहार विना शान्ति नहीं हो किन्तु बहुत सी बार देखा जाता है कि आहार के विना भी अशान्ति नहीं होती जैसे कि व्यापार में एक घण्टे में सो रुपए का लाभ दिखता हो तो संसारी जीव लोभ के वश एक समय का भोजन खाना भूल जाय और कहे कि आज भूख नहीं लगी। इस प्रकार संसार भाव रहित अपूर्व आनन्द का अवसर पाकर अकषाय, अलोभ

दृष्टि के लक्ष्य में आहार सहज ही छूट जाता है। संसारी जीव अवगुण के लक्ष्य में आहार लेना भूल जाते हैं उसी प्रकार साधक जीवों के अनाहारक शुद्धस्वभाव के लक्ष्य में अकषायसे परिपुष्ट पुरुषार्थ की जागृति से छह छह महिना आहार सहज छूट जाता है।—आहार की इच्छा भी नहीं हो। ऐसी दशा में आत्म शान्ति या परम संतोष होता है उससे बाह्यवृत्ति या आकुलता नहीं होती।

ऋषभदेव भगवान को बारह मास के पारणे में ईख का रस मिला किन्तु अन्तरंग में अखण्ड समता की मुख्यता होने से हर्ष नहीं था। भक्त इच्छा करते हैं कि धन्य घड़ी। सुपात्र को आहार दान धन्य! हमारे निमित्त से मुनिश्वर को संयम साधन का पोषण मिला, ऐसा वीतराग भाव सदा बना रहो। उससे दर्शन, ज्ञान, चारित्र आदि संयम की पुष्टि होगी, इस प्रकार भक्तिभाव से भक्त हर्ष करे और भावना भावे कि ऐसा अपूर्व अवसर मुझे कब आवेगा? ॥१२॥

एम पराजय करीने चारित्र मोहनो,
आवुं त्याँ ज्याँ करण अपूर्व भाव जो।
श्रेणी क्षपकतणी करीने आरूढता,
अनन्य चिंतन अतिशय शुद्ध स्वभाव जो ॥अपू०॥१३

इस प्रकार जो चारित्र मोह या अस्थिरता का, निश्चय अचल स्वरूप की स्थिरता द्वारा क्षय करने का पुरुषार्थ प्रकट करता है उसके बुद्धि पूर्वक विकल्प नष्ट होकर स्थिरता विकसित होती है उस स्थिति को अप्रमत्त दशा कहते हैं। छट्ठे–सातवें गुणस्थान में अनन्तानुबन्धी आदि तीन कषायों की चौकड़ी का अभाव रहता है किन्तु चारित्र गुण

में कुछ मलिनता रहती है। अप्रमत्त गुणस्थान में बुद्धिपूर्वक विकल्प या राग का अंश नहीं रहता है, उसमें सूक्ष्म कषाय अंश रहता है जो केवलीगम्य है। इससे आगे आठवें गुणस्थान में क्षपक श्रेणी का प्रारम्भ है जहाँ उपशम नहीं है किन्तु वहाँ चारित्र मोह को क्षय करने रूप क्षपक श्रेणी का उग्र पुरुषार्थ है। क्षपक श्रेणी शुक्ल ध्यान का प्रथम चरण है। इस गुण श्रेणी में प्रति समय अनन्त गुणी परिणाम विशुद्धि बढ़ती जाती है। जैसे स्वर्ण को शुद्ध करते समय भट्टी में १५ वें ताव के बाद १६ वें ताव के अन्त में उसे पूर्ण शुद्ध पाते हैं उसी प्रकार १२ वें गुणस्थान में शुक्ल ध्यान का दूसरा चरण शुरू होने के बाद १३ वें गुणस्थान में ४ घातिया कर्मों का नाश होकर सम्पूर्ण निर्मल केवलज्ञान प्रकट होता है। सर्वज्ञ प्रभु के उस केवलज्ञान में एक समय में सर्व विश्व (सर्व जीव अजीव वस्तु सामान्य विशेष रूप से) प्रतिभासित होता है। इस केवलज्ञान का स्वरूप युक्ति आगम और स्वानुभव से सिद्ध है।

यहाँ चारित्र मोह के क्षय और शुक्ल ध्यान की क्षपक श्रेणी के उग्र पुरुषार्थ की चर्चा है। बारहवें गुणस्थान तक जीव की साधक दशा है। चारित्र मोह का उदय दसवें गुणस्थान तक रहता है। ग्यारहवें गुणस्थान में चारित्र मोह का उदय नहीं होता, बारहवें गुणस्थानमें चारित्रमोह का सर्वथा क्षय होता है। यह जीव क्षपक श्रेणी प्रारम्भ कर आठवें गुणस्थानसे, बीच में नहीं रुकता हुआ आगे बढ़ता हुआ दो घड़ी में केवलज्ञान, केवलदर्शन, अनन्तसुख अनन्त वीर्य, जो शक्तिरूप में अवस्थित था को प्रकट करता है। जिसे उस उत्कृष्ट अपरिमित सुख की रुचि हुई है उस साधक के कहीं रुकने की प्रवृत्ति नहीं होती।

इस प्रकार का निर्ग्रंथ मुनिमार्ग ही तीनों काल में सनातन मोक्ष मार्ग है। विदेह क्षेत्र में भी त्रिकाल यही मुनिमार्ग है।

"करण" का अर्थ परिणाम है। चारित्र के अपूर्वकरण का अर्थ है पूर्ण स्थिरता लाने का तथा केवलज्ञान, केवलदर्शन प्रकट करने का प्रयोग अर्थात् स्वरूप स्थिरता की श्रेणी में आरूढ़ होना। सम्यग्दर्शन होने से जो अपूर्वकरण रूप परिणाम होता है उसकी यहाँ बात नहीं है। इस अपूर्व करण में समय-समय में अनन्त गुणी शुद्धि की वृद्धि द्वारा जीव पूर्ण अकषाय स्वरूप बनाने वाले पुरुषार्थ को करने के लिए शुक्लध्यान की श्रेणी में प्रवेश करता है। इस अपूर्व करण में पहले नहीं हुई ऐसी विशुद्ध परिणामों की एकाग्रता रहती है। इस स्वरूप स्थिरता में एकाकार, तन्मय, अखण्ड, धाराप्रवाही ज्ञान की एकाग्रता और गुण की उज्ज्वलता प्रतिक्षण बढ़ती जाती है।

जो कुछ चारित्र मल का सूक्ष्म उदय हो भी जाय तो उसे क्षपक श्रेणी द्वारा टालता हुआ साधक स्वरूप श्रेणी की लीनता में आरूढ़ होता हुआ "अनन्य चिंतन अतिशय शुद्ध स्वभाव" की दशा प्रकट करता है। यहाँ बिल्कुल एकरूपता रहती है।

कुशल घुड़सवार को लाख रुपए के मूल्य वाले घोड़े पर आरूढ़ होने के बाद पाँच गाँवों का अन्तर पूरा करने में कितनी देर लगे? उसी प्रकार अपूर्व करण की स्थिरता द्वारा स्वरूप रमणता में जो साधक एकाग्र हो गया उसे केवलज्ञान की प्राप्ति में कितनी देर लगे? नहीं लगे। अनन्य चिंतन द्वारा अतिशय शुद्ध अतीन्द्रिय ज्ञान स्वरूप में मेरी लीनता बढ़ती जाय और उसमें आरूढ़ होकर

क्षपक श्रेणी शुरू करूँ ऐसा अवसर शीघ्र प्राप्त हो, यह भावना श्रीमद् ने इस पद में की है ॥१३॥

[ता० ५-१२-३६]

अब श्रीमद् १४ वीं गाथा में केवलज्ञान प्रकट होने की भावना करते हैं :—

मोह स्वयंभूरमण समुद्र तरी करी,
स्थिति त्यां ज्यां क्षीण मोह गुणस्थान जो ।
अंत समय त्यां पूर्ण स्वरूप वीतराग थई,
प्रकटावुं निज केवलज्ञान निधान जो ॥अपू०॥१४॥

जैसे राज महल में जाने के लिए सीढ़ियाँ होती है वैसे ही अपने सहज स्वरूप स्वराज महल में जाने वाले का लक्ष्य अपना पूर्ण पवित्र मोक्ष-स्वरूप है। जैसे महल में जाने के लिए नीचे की सीढ़ियाँ छूटती जाती है वैसे ही स्वराज महल में जाने के लिए चौदह गुण-स्थानरूप सीढ़ियाँ हैं। पहला गुणस्थान मिथ्यात्व है। उस गुणस्थान वाले बहिरातम जीवों को अपने वास्तविक आत्मस्वरूप का ज्ञान नहीं है। बहिरात्मा यह नहीं मानता कि मैं केवल ज्ञाता-दृष्टा, वीतराग, चिदानन्द शाश्वत हूँ। मेरे में ही स्वाधीन सुख, बेहद आनन्द शान्ति है ऐसा उसे विश्वास नहीं होता। वह परवस्तु-देहादि, रागद्वेष, पुण्य पाप को अपना मानता है। वह देहादि बाह्य संयोगों में इष्ट अनिष्ट और सुख दुख की मिथ्या कल्पना कर रागद्वेष का कर्त्ता और हर्ष शोक का भोक्ता बन जाता है। वह मोही जीव जो कुछ मानता है जानता है आचरण करता है वह सब उल्टा है इसलिए उसके दर्शन,

ज्ञान एवं आचरण मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान एवं मिथ्याचारित्र होते हैं, उसकी श्रद्धा ज्ञान और आचरण असत्य हैं।

दूसरा गुणस्थान चौथे गुणस्थान से वापस आने वालों के होता है। चौथे गुणस्थान में सम्यग्दर्शन होकर शुद्ध आत्म स्वरूप का ज्ञान होता है। जब देहादि तथा रागादि से भिन्न केवल चैतन्य स्वरूप का ज्ञान होता है तब स्वानुभव-स्वरूपाचरण प्रकट होता है किन्तु चारित्र गुण पूर्ण रूप से प्रकट नहीं हुआ।

पाँचवाँ देशविरति गुणस्थान है उसमें आंशिक स्थिरता है, यह देशविरति कहलाता है। उसके बाद छट्ठे व सातवें गुणस्थान में सर्वविरतिरूप मुनिपणा है।

आठवें अपूर्वकरण गुणस्थान में जिसके क्षपक श्रेणी होती है उसके अतिशय शुद्ध स्वभावमय पवित्र दशा बढ़ती जाती है। तत्पश्चात् क्रमशः नवाँ एवं दसवाँ गुणस्थान होता है. वहाँ से सीधा बारहवाँ गुणस्थान होता है। वहाँ मोह का क्षय कर जीव तेरहवें गुणस्थान में सयोगी केवली, जिन, वीतराग, सर्वज्ञ भगवान होता है तब उसके अनन्तचतुष्टय पूर्णरूप से प्रकट होते हैं इस गाथा में बारहवें क्षीण मोह गुणस्थान के अंतिम समय की बात है—

श्रीमद् ने मोह को स्वयंभूरमण समुद्र की उपमा दी है उस समुद्र की माप असीम विस्तार वाली है। दो हजार कोस का एक योजन और ऐसे असंख्यात योजन का यह महा समुद्र है। यह मध्य-लोक को तिर्यक लोक कहने में आता है और उस मध्य में जंबूद्वीप एक लाख योजन के विस्तार वाला थाली के आकार है। उसके आगे

एक दूसरे को घेरे हुए वलयाकार असंख्यात द्वीप समुद्रों की परंपरा है उसमें अन्तिम स्वयंभूरमण समुद्र है।

साधक यह विचारता है कि जैसे मोह महासमुद्र जैसा है वैसे ही मेरे में भी उससे भी अनन्तगुणी अपरिमित वेहद शक्ति है इससे मैं आत्मा की इतनी असीम स्थिरता को बढ़ाऊँ कि उससे मोह सर्वथा दूर हो जाय। और मैं जैसा शुद्ध पवित्र ज्ञानघन हूँ वैसा प्रगट दशा में बन रहूँ; स्वरूप में अत्यन्त सावधानी रखूँ जिससे चारित्र मोह स्वयं क्षय हो जावे।

अज्ञानी मोही जीव अनादि कालसे अपनी भूल के कारण संसार में भ्रमण करता है। वह परद्रव्य परभाव में अपनत्व का भ्रम करने से अपने में सुख शांति है यह नहीं मानता। उसने परवस्तु में सुख शांति की कल्पना की है। जीव अपनी भूल से रागद्वेष, अज्ञान द्वारा महा अविवेकी हुआ है। साधक जीव ने उस भूलको सत्समागम और सद्विवेकद्वारा दूर की है। चारित्र मोह की शक्ति के सम्बन्ध में वह कहता है कि उस मोह की शक्ति से अनन्तगुणी शक्ति चैतन्यमें है किन्तु अल्प अस्थिरता है उसको दूर कर क्षपक श्रेणी पर आरूढ़ होकर आठवें, नवमें, दसवें गुणस्थानक में जाकर अतिशय शुद्ध स्वभाव की अधिक उज्ज्वल स्थिरता को बढ़ाते हुए चारित्र मोह का क्षय कर क्षीण मोह नामक १२ वाँ गुणस्थान प्राप्त करूँ। इसी से पूर्ण स्थिरता अर्थात् शुद्ध स्वभाव की लीनता में अकेला चैतन्य आनन्दघन शांत रसका अनुभवन होता है।

जब वीतराग दशा पूर्ण करने का वीर्य स्वरूप में बढ़ता है तब उसके "प्रकटावुँ निज केवलज्ञान निधान जो" ऐसी दशा होती है।

जो शक्ति रूप में है उसे पूर्णरूप से प्रकटते हुए अनन्त आनन्द और केवलज्ञान लक्ष्मी प्रकट होती है।

केवलज्ञान में पर को जानने का लक्ष्य या विकल्प नहीं है फिर भी पर जाना जाता है ऐसा सहज स्वभाव है। आत्म स्वभाव में अपरिमित केवलज्ञान भरा हुआ है। उस पूर्णता के लक्ष्य में पुरुषार्थ कर पूर्ण स्थिर होऊँ तो केवलज्ञान ज्योति और वीतराग सर्वज्ञ परमात्मपद प्रकटे ऐसा साधक जानता है। पूर्ण शुद्ध चेतना स्वरूप और केवलज्ञान निधान जीव के लक्ष्य हैं। केवल ज्ञान को अनन्त चक्षु या सर्व चक्षु भी कहा है।

केवलज्ञान में लोक अलोक (सम्पूर्ण विश्व) अणु की तरह त्रैकालिक द्रव्य गुण पर्याय सहित एक समय में स्पष्ट दिखता है। यह अचिंत्य असीम ज्ञान शक्ति वाला केवलज्ञान, प्रत्येक चैतन्यमय आत्मा के स्वद्रव्य और स्वभाव में त्रिकाल शक्ति रूप से विद्यमान रहता है, उसका कोई समय अभाव नहीं है। "सर्व जीव छे सिद्ध सम, जे समजे ते थाय।" गृहस्थावस्था में पूर्णता के लक्ष्य में यह भावना की है कि मैं जल्दी केवलज्ञान लक्ष्मी प्रकट करूँ। साधक सर्वप्रथम सिद्ध परमात्मा जैसा शुद्ध आत्म स्वरूप है वैसा यथार्थरूप से जानकर परमपद प्राप्ति की भावना करता है।

सब प्रकार से त्रिकाली आत्मद्रव्य को जैसा है वैसा जानने से ही सच्चा समाधान हो और अज्ञानमय रागद्वेष नहीं हो। "आकुलता (अशान्ति) रहित केवल समता अर्थात् असीम आनन्दमय परम सुख मेरे में ही है "जिसे ऐसा यथार्थ अनुभव (स्वसंवेदन) होने के बाद बाह्यवृत्ति की तरफ रुचि नहीं रहती और इससे उसके केवलज्ञान

की भावना होती है। इस स्वरूप की पूर्णता जल्दी प्रकटे यह भावना इस गाथा में की गई है।

केवलज्ञान प्रकट होने पर आत्मा की कैसी दशा होती है यह बताते हैं:—

चार कर्म घनघाती ते व्यवच्छेद ज्यों,
भवना बीजतणो आत्यन्तिक नाश जो;
सर्वभाव ज्ञाता दृष्टा सह शुद्धता,
कृत कृत्य प्रभु वीर्य अनन्त प्रकाश जो ॥अपू०॥१५॥

तेरहवें गुणस्थान में आत्मा की पूर्ण, शुद्ध, पवित्र केवलज्ञान दशा प्रकट होती है, संसार के मूल का नाश होता है, चार घातिया कर्म का नाश होता है। अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तसुख और अनन्तवीर्य की हीनता में चारघातिया कर्म-ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अंतराय क्रमशः निमित्त हैं। स्वयं विपरीत परिणमें तो वे निमित्त कहलाते हैं। कर्म घनघाती है तो आत्मा ज्ञानघन है कर्मका स्वभाव बन्धरूप है और आत्मा का स्वभाव मोक्ष है। जिसे यह स्वभाव प्रकट हुआ उसे जड़कर्म का बल नहीं दिखता। तेरहवें गुणस्थान में चारघातिया कर्मों का क्षय होता है और उससे संसार के बीज का नाश होता है। चार अघातिया कर्म वेदनीय, आयु, नाम और गोत्र-जली हुई रस्सी की तरह रहते हैं किन्तु वे स्वरूप को विघ्नरूप नहीं हैं।

"सर्व भाव ज्ञाता दृष्टा सह शुद्धता" को निश्चयसे केवल निज स्वभाव के अखण्ड ज्ञान वर्तता है ऐसा समझना वास्तविक

परमार्थ है। किन्तु अज्ञानी यह मानता है कि केवलज्ञान होने से लोक और अलोक दिखते हैं, उसको लोकालोक देखने में ही माहात्म्य लगता है, यह उसकी बाह्य दृष्टि है (व्यामोह है)। दूसरे ज्ञेयों को जानने का व्यामोह पराश्रित भाव है उससे यह होता है कि अंतरंग चेतन में स्वज्ञेय में, जानने योग्य कुछ नहीं है ऐसा अज्ञानी मानता है जब कि ज्ञानी के अपने स्वरूप के अखण्ड ज्ञान ऊपर दृष्टि है। 'परज्ञेयों का जानना केवलज्ञान है' यह निमित्त का उपचार कथन है। पर अपने पुरुषार्थ से पूर्ण केवलज्ञान स्वाधीनरूप से प्रकट होता है उसमें पर को जानने की इच्छा नहीं है। जब केवल अपने स्वभाव का अखंड निर्विकल्प ज्ञान रहता है तब परवस्तु अर्थात् जगत के अनन्त पदार्थ उस निर्मल ज्ञान में सहज ही जाने जाते हैं इसकी सिद्धि इस गाथा में की गई है।

"सर्व भाव ज्ञाता-दृष्टा सह शुद्धता" अर्थात् सर्व द्रव्य क्षेत्र काल और भाव एक समय में उस केवल ज्ञानमें सामान्य और विशेष-रूप से एक साथ सहज ही जाने जाते हैं।

जगतमें अनन्त जीव और अजीव हैं स्वतंत्र द्रव्य हैं उनमें प्रत्येक द्रव्य में सामान्य और विशेषपना है। सामान्य सत्ता के अवलोकन व्यापाररूप दर्शन गुणमें सर्व विश्व को देखना सहज ही हो जाता है। उसी समय उन सभी द्रव्यों की एक समय में होने वाली उत्पाद व्यय स्वरूप अवस्था विशेष भी ज्ञानोपयोग में सहज ही आ जाती है अपना अखण्ड ज्ञानदर्शन एक साथ प्रवर्तता है।

आत्मा की श्रद्धा होने के बाद स्वरूप की रुचि और भावना

(एकाग्रता) बढ़ते पूर्ण स्थिरता के अवलम्बन द्वारा पूर्ण शुद्धता प्रकटी है। तेरहवें गुणस्थान में भावमोक्ष दशा है। उसमें अनन्त ज्ञान, अनंत दर्शन, अनन्तसुख और अनन्तवीर्य की दशा ही "सह शुद्धता" है। अनन्त वीर्य पूर्ण रूप से प्रकट हुआ इसीसे "कृत कृत्य प्रभु वीर्य अनंत प्रकाश जो" यह दशा होती है। यह वीर्य गुण आत्मा के सर्व गुणों को स्थिर रखने वाला है; ऐसा कृत कृत्य वीर्य (स्वरूप का बल) उस सहज स्वभाव में एकरूप है।

प्रश्न—यह पूर्ण कृत कृत्य शुद्ध स्वभाव कैसे प्रकट हुआ अर्थात् प्राप्त नी प्राप्ति कौन सा क्रम से हुई ?

उत्तर—जीव अनादि काल से भेद ज्ञानरहित होने के कारण देहादि, पुण्य-पाप, रागादि जड़ कर्म में एकत्व से (यह मेरे हैं ऐसी मान्यता से) अहंभाव पूर्वक बन्धन में रुका था। उसके सत्समागम द्वारा आत्मा के शुद्ध स्वरूप की यथार्थ प्रतीति करते हुए स्व और पर का विवेक जागृत हुआ और उसने स्वानुभव की दशा जागृत की। 'मैं शुद्ध हूँ' ऐसी यथार्थ श्रद्धा और भेदज्ञान सहित स्थिरता के अभ्यास द्वारा चारित्र मोह क्षय कर निराकुल आनन्द, वेहद, सुख शान्ति स्वरूप की प्राप्ति हुई क्योंकि भाव मोहका अभाव होने से आवरण नहीं रहा।

बारहवें गुणस्थान से चारित्र मोह का क्षय होने से पूर्ण वीतरागता की शुद्धता प्रकटती है। अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्त सुख और अनन्त वीर्य की पूर्ण शुद्धता प्रकट होने में अन्तर्मुहूर्त लगता है। उसमें सहज पुरुषार्थ द्वारा ज्ञानावरण, दर्शनावरण मोहनीय और अन्तराय का क्षय हो जाता है। थोड़े समय में अनन्त चतुष्टयमय सुप्रभातरूपी केवलज्ञान ज्योति प्रकट होती है। रागद्वेषरूप मोहकर्म

का सर्वथा क्षय करने से वह जिन कहलाता है। पूर्ण कृत कृत्य होने से वह परमात्मा' कहलाता है। यह इस प्रकार ईश्वर, शिवस्वरूप, जिनेश्वर, भगवान, वीतराग आदि अनेक नामों से सम्बोधित होता है। उस सम्पूर्ण दशा को 'सर्वभावांतरच्छिद्रे' भी कहते हैं। उसका अर्थ यह है कि केवल ज्ञान-दर्शन में स्वयं और स्वयं से भिन्न समस्त जीव अजीव चराचर पदार्थ तथा उनके समस्त क्षेत्र, काल भाव एक ही समय में स्वाभाविक रूपसे सामान्य और विशेष रूप से जाने जाते हैं।

निश्चय से, अपने अंतिम पुरुषाकार अरूपी ज्ञानपिंड में केवल निज स्वभाव का अखण्ड ज्ञानदर्शन एक ही समय में रहता है। देह रहते हुए जीव के जो सर्वज्ञ दशा होती है वह तेरहवाँ गुणस्थान है। केवलज्ञान में सम्पूर्ण सर्वज्ञता नहीं है इस मान्यता का निराकरण उक्त कथनसे होता है।

एक ही आत्मा नहीं अपितु अनन्त आत्माएँ हैं यह सिद्ध हुआ। अनन्त अजीव अचेतन पदार्थ हैं। ईश्वर, सर्वज्ञ, भगवान या परमात्मा जो कुछ कहो वह जगत की व्यवस्था का करने वाला नहीं है यह भी साथ में सिद्ध हुआ। "मैं शुद्ध हूँ" ऐसी जिसे आत्मा की अपूर्व रुचि है वह देहादि बाह्य निमित्तको तथा काल कर्म के कारणको नहीं देखता है किन्तु वह पूर्ण शुद्ध स्वरूप प्रकट करने की ही भावना निरन्तर करता है।

यदि संसार की रुचि वाले के कभी पुण्ययोग से एक भी बच्चा हो जाय तो उसके विवाहोत्सव करने का उल्लास अनेक दिन

पहले ही आ जाता है। उस सम्बन्धमें चिन्तन हुआ करे उसकी माँ भी उनके अनेक गीत गाकर प्रेम प्रकट करती है, उसकी आवाज भी बैठ जाती है, वह रात दिन के जागरण और थकावट को कुछ भी नहीं गिनती। इस विवाह प्रसंग में वह तल्लीन रहती है, ऐसा विपरीत पुरुषार्थ संसार की रुचि वाले करते हैं वे अन्य बात नहीं सुनते। न याद करते।

अब उसके दूसरा मोड़ लेने का अर्थ है संसार की रुचि को अपने पुरुषार्थ द्वारा हराता है मैं शुद्ध ज्ञानघन हूँ, पुण्य पाप, रागादि रहित अक्रिय ज्ञानमात्र हूँ ऐसी यथार्थ श्रद्धा और परसे भिन्नत्व का ज्ञान होने से अपने पूर्ण शुद्ध स्वरूप को प्रकट करने की भावना उत्कृष्ट रुचि द्वारा भाता है साधक गिरने की बात याद नहीं करता और अन्य को नहीं देखता और बाह्य देहादि निमित्त कारणों तथा काल के कारणों को नहीं देखता क्योंकि उसकी श्रद्धामें अपूर्व मांगलिक है, उसे पूर्ण स्वरूप प्राप्ति का महान उत्साह रहता है।

देखो तो सही! श्रीमद् गृहस्थावस्था में थे, उनकी २६ वर्ष की युवा अवस्था थी किन्तु फिर भी उनकी अतीन्द्रिय भावना में पूर्ण आत्मा और साधक स्वभाव की लगन थी। श्रीमद् ५ वर्ष बाद ही समाधिमरण धारण करने वाले थे। ऐसी अपूर्व जागृति कैसी होगी। 'एक भव में मोक्षस्वरूप प्रकट होगा' ऐसी भावना, इसप्रकार का विश्वास और दृढ़तर उत्कृष्ट रुचि कैसी होगी। ऐसा विचार मनन चिंतन आत्मा में करने योग्य है। यथार्थ श्रद्धा होने के बाद उसकी रुचि और प्राप्ति के लिये पुरुषार्थ बढ़ता जाता है। इसप्रकार की प्रगट चारित्र दशा (निर्ग्रंथ मुनिदशा) भी वर्तमान में न हो सके यह भिन्न

बात है किन्तु उसकी भावना तो अधिकाधिक की जा सकती है। सम्यग्दृष्टि के अभिप्राय में परमाणुमात्र की इच्छा नहीं है, उसके देहादि समस्त परद्रव्यों में निर्ममत्व भाव रहता है। उसके हेय उपादेय का यथार्थ विवेक रहता है। 'मैं पूर्ण शुद्ध सिद्धके समान हूँ इसलिए वैसा ही बनूँ' यही एकत्व का सम्यग्दृष्टि को आदर रहता है, और उसकी भावना रहती है। वह पुरुषार्थ के अपूर्व अवसर की भावना तो वर्तमान में कर ही सकता है।

इस काल में भी सर्वज्ञ भगवान तीर्थंकर प्रभुने एकावतारी जीव बताए हैं। स्वरूप की यथार्थ श्रद्धा, स्वरूपके लक्ष्य में जिन आज्ञा का विचार, वीतराग स्वरूप का चिंतवन, स्वरूप स्थिरता की उत्कृष्ट रुचि का ही रात दिन मनन-अभ्यास, उत्साह, जाग्रति इस काल में भी हो सकते हैं। संसार का प्रेम रोम तक में भी नहीं रहे और वीतराग चारित्र की भावना निरन्तर भाता है।

ऐसा धर्मात्मा अपनी कमजोरी से गृहस्थ दशा में होता है। उस दशा होने पर भी धर्मात्मा को एक भवावतारी होने का असंदिग्ध (निःशंक) विश्वास होता है। यह केवल कथन मात्र नहीं है। अपूर्व दशा, अपूर्व विचार और सच्चें आत्मधर्म की रुचि किसको होती है? स्थिर शान्त चित्त से कौन विचार करें? संसारी जीव संसार की उपाधि में सुख मानता है। मान, प्रतिष्ठा, घर, कुटुम्ब और देहादि के व्यवसाय की ममता छोड़कर थोड़ी भी निवृत्ति धारण कर इस तत्त्व का कौन विचार करता है? संसारी जीवोंमें खोटी प्रवृत्तियों ने जड़ जमाली है इससे खाने पीने आदि अनेक प्रकार की शारीरिक कुशलता से निवृत्ति नहीं मिलती है। भोजन में भी कितनी विघ्नता

रहती है। रोज़ाना दो तीन साग आदि से विभिन्न प्रकार की स्वाद की इच्छाओं के पोषण करने का बहुत जोर है; स्त्री को भी रसोई के कार्य से छुटकारा नहीं मिलता। ऐसे अनेक विषयासक्त परिणामों और व्यवसायों में आत्मा की चर्चा किसे सुहावे ?

समस्त संसार दुखसे त्रस्त है। उपाधि कितने व्यापक रूप में है ? उसमें कितनी अशान्ति व्याप्त है। इतना होते हुए भी देहादि की ममता के आगे संसारी जीव को उस अशान्ति और दुःख का भान नहीं होता है। वह दिन रात सब्जी, मिठाई तथा मान, द्रव्य, प्रतिष्ठा, अपना बड़प्पन आदि का ही विचार किया करता है। विषय-कषाय और देहादि की आसक्ति कम किए बिना आत्मा की रुचि, सच्ची प्रतीति कैसे हो ? जिसे सत्पुरुष के आश्रय चलना हो उसे संसार से सुख बुद्धि की ममता छोड़नी होगी। मुमुक्षु के लक्षण धारण करके स्वरूप की प्राप्ति के लिए सत्समागम और तत्त्वज्ञान का अभ्यास कर और उसमें दृढ़ होकर उनके पीछे तीव्र जिज्ञासा और आत्महित का मनन किए बिना सच्चे मार्ग का आंशिक भान भी नहीं होता। भव भ्रमण का भय कैसे मिटे ? जो रात दिवस अपने संसार के अन्त करने का विचार करता रहता है उसके संसार का भय कैसे रहे ? वे मुनि धन्य हैं। वह वीतरागी दशा धन्य है अपूर्व अवसर की स्थिरता-रमणता वह कब आवेगी ? उनकी ऐसी तैयारी करने की यह भावना है।

'रुचि अनुसार कार्य' अर्थात् जहाँ जिसकी जैसी रुचि हो तहाँ वैसा पुरुषार्थ हुए बिना रहता नहीं है। अपने को जिसकी आवश्यकता है उसका निष्पक्षभाव से निश्चित करना चाहिए। उसमें विरोधी कारण क्या हैं ? उनका ज्ञान पहले होना चाहिए।

जिसे सच्चे हित अर्थात् मोक्षपद की रुचि है उसे संसार के किसी भी पदार्थ की रुचि नहीं होती है। यह मेरा शरीर स्थिर रहे, बाह्य की अनुकूलता मिले तो ठीक रहे आदि इच्छाएँ करने का मुमुक्षु जीव को अवकाश ही नहीं मिलता, ऐसा अभिप्राय और ऐसी वास्तविक भावना सर्वप्रथम होनी चाहिए।

आत्मा को पर से भिन्न मानते हैं क्या? यदि हाँ तो उसका लक्षण क्या है? मैं आत्मा हूँ तो कैसा हूँ? कितना बड़ा हूँ? और मेरा कार्य क्या है? यह सब पहले निश्चित करना चाहिए क्योंकि अनन्तकाल से समझ में मानने में भूल चली आती है। अपने स्वभाव की खतौनी में भारी भूल है जिसमें सारी भूलें समा जाती हैं। मन, वचन और काय आदि जड़ की कोई क्रिया चेतन के हाथ नहीं है क्योंकि अरूपी आत्मा रूपी जड़ की क्रिया करे या पर की व्यवस्था करे यह सर्वथा असम्भव है।

पुण्य परिणाम, शुभ अशुभभाव मलिन दोनों मोह जन्य हैं औदयिक भाव है जो बन्धके कारण है। शुभराग पराश्रितभाव होने से, शुभ परिणाम से अविकारी आत्मा को गुण मानना भूल है। पुण्य परिणामों को करने योग्य या इष्ट मानना और उनको आत्मा के हितमें कारण मानना भूलरूप मान्यता है। ऐसे विपरीत पुरुषार्थ से अबन्ध और शुद्ध आत्मा का अंश भी कैसे जाग्रत हो? बन्ध और कर्म भाव से अबन्ध-निष्कर्म अवस्था नहीं ही प्रकट हो। इसलिए प्रथम स्वपर की भिन्नता विरुद्ध भावकी विपरीतता स्वभावकी सामर्थ्यता विरोध रहित जानना। आत्मा की यथार्थ श्रद्धा बिना सभी साधन बन्धन-

स्वरूप हो जाते हैं। जड़ कर्मों या संसार की व्यवस्था आत्मा करता है ऐसा मानना चक्रवर्ती राजा के सर पर मल का बोझा डालने जैसा अनुचित कार्य है। आत्मा का अबन्ध स्वभाव है, जिसे जीव अज्ञानभाव से बन्ध वाला मानता है। जड़ का बन्ध स्वभाव है उसका आत्मा में उपचार कर "मैं पुण्य करूँ तो ठीक, इससे आत्मा का साधन होगा, गुण होगा," यह जो मानता है उसने स्वगुण का घात किया है। आत्मा का भान होने के बाद 'मैं अबन्ध हूँ, असंग हूँ' ऐसे लक्ष्य सहित स्थिर ज्ञातापना में सावधान रहने का पुरुषार्थ भूमिकानुसार होता है उसमें तीव्र कषाय दूर होकर मंद कषाय, शुभयोग, पुण्य परिणाम हुए बिना रहेंगे नहीं किन्तु धर्मात्मा उसमें हित नहीं मानता क्योंकि अपने सच्चे अभिप्राय तथा पुरुषार्थ अपना पूर्ण शुद्धत्व की ओर है उसका पूर्णपद लक्ष्य है। नीचे शुभाशुभ भाव होते हैं उस समय वह उसको विवेक सहित जानता है। जो परावलम्बी भाव होता है वह उदय भाव है उसको करने योग्य और ठीक कैसे माने? चैतन्य भगवान देहादि की क्रिया का कर्त्ता नहीं है। 'मैं परसे भिन्न केवल शुद्ध चैतन्य मात्र हूँ' ऐसी श्रद्धा और इस भावना वाले के अल्पकाल में चारित्र दशा आए बिना नहीं रही। उसके भावीभव का अभाव ही है।

श्रीमद् को सातवें वर्ष में जातिस्मरण ज्ञान हुआ था उनकी स्मरण शक्ति इतनी तीव्र थी कि कोई भी पुस्तक एक बार पढ़ने के बाद दुबारा पढ़ने की आवश्यकता नहीं थी ऐसी उनके ज्ञान शक्ति प्रगट हुई थी। वे श्वेताम्बर सम्प्रदाय के ४५ आगम सूत्र बहुत थोड़े समय में पढ़ गए थे और उन्हें दिगम्बर सत् शास्त्रों का अच्छा अभ्यास था। सम्पूर्ण जैन शासन का रहस्य उनके हृदय में भरा हुआ था। ऐसी

विशाल और तीक्ष्ण बुद्धि वाले श्रीमद् थे। वे लोक सम्पर्क से दूर रहना चाहते थे—और निरन्तर स्वरूप की सावधानी का विचार, शास्त्र स्वाध्याय और गम्भीर मनन करते थे और भावना करते थे कि कब निवृत्ति लेऊँ।

धर्मात्मा अपनी अन्तरंग की स्थिरता बढ़े बिना हठ पूर्वक त्याग कर भागते नहीं, क्योंकि हठ से कुछ नहीं होता। पुरुषार्थ बढ़ने पर मुनि पद का विकल्प और अन्त में मुनित्त्व सहज ही आता है।

धर्मात्मा गृहस्थ को अस्थिरता के कारण शुभ और अशुभवृत्ति होती है किन्तु उसका आदर नहीं है। उनकी दृष्टि में संसार का अभाव रहता है और वैराग्य बढ़ाता हुआ मोक्ष की भावना भाता है।

जहाँ जिसकी रुचि हो वहाँ उसकी प्राप्ति का पुरुषार्थ हुए बिना रहता नहीं। धर्मात्मा को निवृत्ति का ही विचार आता है, स्वप्न में भी उसका ही विचार होता है। संसार की ममता कम कर कुछ महीने निवृत्ति लेकर सत्समागम करे और बारम्बार शास्त्र का अध्ययन, मनन और विचार करे तो मोक्ष की रुचि बढ़ती है। तत्त्व की यथार्थ रुचि होने पर स्थिरता की प्राप्ति के लिए अनन्त वीर्य प्रकटे ऐसा अपूर्व अवसर (स्वकाल-दशा) कब आवे ऐसी भावना इस गाथा में भाई है।

इस तेरहवीं भूमिका में आत्मा की पूर्ण शान्त समाधि (असीम सुख दशा) रूप परभाव गाढ सम्यक्त्व और यथाख्यात चारित्र प्रकट होता है ॥१५॥

केवलज्ञानी के चार अघातिया कर्म कैसे होते हैं यह सोलहवीं गाथा में बताते हैं—

वेदनीयादि चार कर्म वर्ते जहाँ,
बली सींदरीवत् आकृतिमात्र जो;
ते देहायुष आधीन जेनी स्थिति छे,
आयुष पूर्णे मटिये दैहिक पात्रजो।
(अपूर्व १६ ॥

तेरहवीं भूमिका में अनंतज्ञान, अनंतदर्शन, अनंतसुख और अनन्तवीर्य प्रकट होता है किन्तु अब भी चार अघातिया कर्म जली हुई जेवड़ी (रस्सी) की तरह विद्यमान रहते हैं किन्तु वे बाधक नहीं हैं और आयु पूर्ण होने तक उनकी स्थिति है। आयु पूरी होने से जीव की देह में रहने की स्थिति पूरी होती है और मुक्ति प्राप्त करता है, फिर जन्म नहीं होता।

जब तक आत्मा का यथार्थ भान नहीं हो तब तक परवस्तु, देहादि, पुण्यादि में कर्तृत्व, ममत्त्व और सुख बुद्धि दूर नहीं होती। वह यदि कभी अज्ञानपूर्वक शुभ परिणाम करे तो पापानुबन्धी पुण्य बांधे और परम्परा से नरक निगोद में जाएगा। आत्मा के भान एवं श्रद्धा बिना भव (संसार) कम नहीं होता।

सच्चे हित की समझ बिना इस जीव को अनन्त काल से इस संसार में परिभ्रमण करना पड़ा है। इसने कभी भी अपूर्व ज्ञान द्वारा आत्मा को परसे भिन्न नहीं समझा जिससे आत्मा कर्म बन्धन में रहा और शरीर सम्बन्ध नहीं छूटा। एक शरीर से छूट कर अन्य शरीर के लिए जाते समय भी तैजस और कार्माण शरीर आत्मा के साथ ही रहते हैं। सम्यग्दर्शन के बिना बाहर से भी बहुत प्रतिकूल

संयोग दिखते हैं—क्योंकि निर्दोष ज्ञाताशक्ति को भूलकर पराश्रय से लाभ मानता है पर सत्ता को स्वीकार कर यह जीव बन्धभाव में लगा हुआ है; इसलिए वह परवस्तु में सुखबुद्धि और इष्ट अनिष्ट की कल्पना कर वह रागी द्वेषी होता है। वह आत्मा को भूलकर पुण्यादि परउपाधि में सुख मानता है।

जैसी मान्यता हो वैसी ही रुचि हो और रुचि अनुसार आचरण हुए विना रहे नहीं। अपने में ही अनन्त आनन्द भरा हुआ है इसका उसे विश्वास नहीं होता, इससे उस आनन्द से विपरीत अवस्था दुःख और अशांति ही है। आत्मा स्वयं स्वतंत्र आनन्द स्वरूप है, यदि उसकी प्रकट दशा न हो तो दुखरूप अवस्था ही प्रकट होगी। जीवने अपने को भूलकर पर से ममत्त्व किया इससे उसने अपने आनन्द को क्रोध, मान, माया, लोभ द्वारा विगाड़ा अर्थात् स्वाधीन स्वरूप (ज्ञाता स्वभाव) का ही उसने विरोध किया।

स्वभाव के अनन्त सुख को छोड़ कर पुण्य-पाप , मान-अपमान के वश होकर जो यह मानता है कि 'मैं सुन्दर हूँ, अन्य को मैं ऐसा रखूँ तो रहे, मैं अन्य को सुखी दुखी कर सकता हूँ, जिलाऊँ, मारूँ या ऐसी व्यवस्था रखूँ' वह अपने चैतन्य के शांति स्वरूप को भूलता है। जो पर की व्यवस्था को मैं रखूँ ऐसा मानता है वह महा उपाधिरूप अशांति को पाता है।

लोग एक दूसरे की कुशलक्षेम पूछते हैं तव उत्तर में यह कहा जाता है कि आनन्द है 'मुझे दुख नहीं है।' किन्तु थोड़ा गंभीरता पूर्वक विचार कौन करे कि महा मोहने आत्मा के आनन्द को लूट लिया है? क्रोध, मान, माया और लोभ से प्रतिक्षण स्व की

हिंसा और अशांति हो रही है उसे कौन देखता है ? जैसे कोई खूब शराव पीकर मल-मूत्र में पड़ा २ भी आनन्द मानता है उसी प्रकार आत्म ज्ञान से रहित मूढ जीव परवस्तु में आनन्द मानता है।

अज्ञानी कहता है कि हमने आत्मा को शरीर से भिन्न मान लिया है और धर्म क्रिया कर रहे हैं तो वह मिथ्या है। जिसे अपनी रुचि और वर्तमान परिणामों की खवर नहीं है वह धर्म के नाम पर शुभभाव करे तो पापानुवन्धी पुण्य बांधे और साथ ही साथ मिथ्यात्त्व का (मिथ्या अभिप्राय का) अनन्त पाप बांधे।

अपने अनंत आनन्द स्वभाव को भूलकर, अनन्त आनन्द से सर्वथा विपरीत अवस्था-दुख, अशांति, क्रोध, मान, माया और लोभ में जीव लगे तो वह प्रतिक्षण आत्मा की भाव हिंसा करता है। जो महा अशांति में सुख की कल्पना करता है। वह अपनी ही अनंती हिंसा है। जो स्वयं ही अपने को भूलकर धर्म को पराश्रित मानता है उसको दूसरा कौन समझा सकता है। स्वयं ही धैर्यपूर्वक अपने परिणामों को पहचान ले, अवलोक के और अनादि से चली आई भूल को दूर करे तो धर्म हो।

श्रीमद् रायचन्द्र ने युवावस्थामें अपूर्व वैराग्य, उपशम भाव सहित मोक्ष पद की प्राप्ति के लिए यथार्थ वीतराग स्वरूप की भावना कर वुद्धि का सदुपयोग किया था।

वर्तमान में साधारण वुद्धि वाला जीव 'यह युग स्वतंत्रता का युग है, वुद्धिवाद का है, हमारी यह मान्यता है जो हमने विचारा वह पूरा कर सकते हैं इत्यादि वहुत प्रकार के। स्वच्छंदता पूर्ण विचारों से पागल हुआ दिखता है। अंग्रेजी पढ़कर कई तो वहुत अहंभाव

रखते है और अपने पूज्यजनों को मूर्ख गिनते हैं और वे कहते हैं कि बूढे लोग धर्म का ढोंग लेकर बैठे हैं। यदि कभी पुण्य की अनुकूलता हो तो स्वच्छंदता भी खूब फलीभूत होती है तब वह 'हम चौड़े और गली सकड़ी' वाली कहावत चरितार्थ करता है। जब कि ज्ञानी जीव भावना करता है कि मैं पूर्ण, शुद्ध असंग हूं। उसे अपनी पूर्ण पवित्रता प्रगट करनेकी रुचि में संसार की रुचि करने का अवकाश नहीं है। ज्ञानी स्वरूप की भावना में निश्चित करता है कि परमाणु मात्र भी मेरा नहीं है और वह स्वरूप स्थिर होता हुआ संसार से निर्ममत्वी होता है।

अज्ञानी जीव संसार में देहादि विषयों में एकत्त्व बुद्धि करता है कि यह मैंने किया, मैं यह कर सकता हूं, मैंने दूसरों को सुखी किया और मेरे से ही यह सब कुछ होता है इन विकल्पों से वह आत्मा को अपराधी, उपाधिवाला, जड़, पराधीन और पुद्गल का भिखारी बनाता हुआ स्वयं विशेष दुःखी बनता है। उसको रात्रि में भी स्त्री, धन, व्यापार आदिके ही स्वप्न आते हैं।

ज्ञानी, धर्मात्मा श्रीमद् ने २६ वें वर्ष में अपूर्व अवसर की यह भावना की कि देहादि की उपाधि चिन्ता दूर करूँ और आत्मा का पूर्ण, असंग, शुद्ध स्वरूप प्रकट कर अशरीरी बनूँ, परम तत्त्व की दृढ रुचि होने पर स्वप्ने भी उस सम्बन्धी ही आते हैं। ऐसी रुचि वाला रात दिन आत्मा को ही देखता है, जानता है और विचारता है कि मैं अशरीरी हो जाऊँ, महान सन्त मुनिवरों के सत्संग में बैठा हूँ, मुमुक्षुओं का समुदाय एकत्रित है, नग्न निर्ग्रंथ मुनियों के संघ दिखाई पड़ते हैं आदि इसीप्रकार के स्वप्ने ज्ञानी देखा करता है।

जिसे संसार की रुचि है उसके इस प्रकार के विचार व लगन रहते ही हैं। पुण्य-पाप देहादि के कार्यों को अपने आश्रित मानना कर्तृत्व भाव है, बन्धभाव है, आत्मा निराकुल चैतन्य आनन्द मूर्ति है। 'चैतनरूप अनूप, अमूरत सिद्ध समान सदा पद मेरा' ऐसा मेरा सिद्ध पद शीघ्र प्रकट हो, अन्तरंग में ऐसी भावना का दृढ अभ्यास करने से चारित्र गुण विकसित होकर वीतरागता प्रकट होती है।

संसारी मोही जीव बाह्य उपाधि से तथा धर्म के नाम पर पापानुबन्धी पुण्यभाव द्वारा अपना विकास चाहता है; जब कि ज्ञानी यह मानता है कि मैं आनन्दस्वरूप की स्थिरता में विकसित होऊँ, एक परमाणुमात्र भी उपाधि नहीं रहने देऊँ। वह ऐसे अबन्ध भाव में वीतराग दृष्टि द्वारा स्वरूप की सावधानी बढ़ाता है और अपूर्व स्थिरता (ज्ञान की एकाग्रता) की भावना करता है। इस पवित्रता की रमणता में देहादि परमाणुमात्र का सम्बन्ध दूर हो जावे ऐसा अपूर्व अवसर कब आवेगा? ऐसी भावना इस गाथा में की गई है। इस प्रकार की आंतरिक अवस्था प्राप्त हुए बिना कोई भी मोक्ष स्वभाव को प्राप्त नहीं करता।

[ता० ६-१२-३६]

शुद्ध आत्मस्वरूप कैसे प्रकट हो यह भावना इस गाथा में व्यक्त की गई है। जिसमें जिसकी रुचि है वह उससे कम नहीं मांगता, स्वीकार नहीं करता। जिसे संसार के धन, इज्जत आदि की रुचि है वह रागादि तृष्णा द्वारा खूब परिग्रह की इच्छा करता है और वह जल्दी प्राप्त हो ऐसी भावना करता है। ज्ञानी के उससे विपरीत किन्तु सबल पुरुषार्थ होता है। यह संसार एकांत दुख एवं अज्ञान जनित

अशान्ति से दग्ध हो रहा है किन्तु मेरा आत्मस्वरूप उससे भिन्न बेहद शान्ति–आनन्द मय ज्ञानघन है ऐसा ज्ञान होने पर शुद्ध तत्त्वस्वरूप की भावना होती है और क्रमशः पूर्ण की रुचि बढ़ती जाती है।

ऐसी सिद्ध दशा की भावना होती है।

धर्मात्मा को अपने पूर्ण शुद्ध आत्मपद जैसा है उसकी ही यथार्थ श्रद्धा और सुविचारदशा पूर्वक सहज आत्मस्वरूप की रटन लगी रहती है; ज्ञानी पूर्णता के लक्ष्य में पूर्ण होने की भावना करता है ॥ १६ ॥

अब चौदहवीं 'अयोगी जिन' भूमिका का कथन किया जाता है—

मन, वचन काया ने कर्मनी वर्गणा,
छूटे जहाँ सकल पुद्गल संबंध जो;
अेवुँ अयोगी गुणस्थानक त्याँ वर्ततुँ,
महाभाग्य सुखदायक पूर्ण अबंध जो ।अ० ।१७ ।

ज्ञानावरण, दर्शनावरण आदि आठ कर्म इन पुद्गल रज-कणों के संयोगी सम्बन्ध वाले हैं और अनादि काल से प्रवाहरूप में चले आरहे हैं, पुराने कर्म दूर हों और नए कर्म बंधे ऐसा अनादि-कालानी प्रवाह १४ वें गुणस्थान में रुकता है।

आत्मा अबन्ध है, मोक्षस्वभाव वाला है, उसे भूलकर इस जीव ने बन्धभाव में अटक कर अनन्त दुख पाए हैं किन्तु जब से सब पक्षोंसे विरोध दूर कर सम्यग्दर्शन प्रकट करे तब से पूर्णता के लक्ष्यमें स्थिरता का पुरुषार्थ बढ़ते बढ़ते जीवके जब केवलज्ञान प्रकट होता है

तब वह तेरहवां गुणस्थान–'सयोगी केवलीत्व' प्राप्त करता है। चौदहवें गुणस्थान में शेष चार अघातियों कर्मों के छूटने का काल पाँच ह्रस्व स्वर (अ, इ, उ, ऋ, लृ) के बोलने जितने समय का है उतना चौदहवें अयोगी गुणस्थान का समय है। उस समय आत्म प्रदेशों का कंपन नहीं है तथा किसी भी कर्म परमाणु का आश्रव नहीं है। उक्त पाँच ह्रस्व स्वरों के कहने में जितना समय लगे उतने समय में आयु, नाम, गौत्र और वेदनीय कर्मों की स्थिति पूरी होकर आत्मा अविनाशी, मुक्त सिद्ध दशा प्राप्त करता है। तेरहवें गुणस्थान में साक्षात् सर्वज्ञ प्रभु पूर्ण वीतराग होते हुए भी उनके योग का कम्पन होने से एक समय मात्र का कर्म का आश्रव होता है जिसकी उसी समय निर्जरा हो जाती है। तेरहवें गुणस्थान में जड़ देह के रजकण अति उज्ज्वल स्फटिक जैसे स्वच्छ हो जाते हैं और–पृथ्वी से पाँच हजार धनुष ऊँचा सहजरूप से उस देह का विचरण होता है।

यदि तेरहवें गुणस्थान वाले के तीर्थंकर नामक नाम कर्म की उत्कृष्ट पुण्य प्रकृति का योग हो तो इंद्रों द्वारा समवशरण की अलौकिक, आश्चर्य कारक रचना होती है। वहां गंधकुटि रत्नजडित सिंहासन, अशोक वृक्ष, मानस्थम्भ, आदि अनेक प्रकार की अति सुन्दर रचना होती है। सौइन्द्र भगवान की भक्ति करते हैं। भव्य जीवों के अति उपकारी निमित्त स्वरूप उनके दिव्य ध्वनि ॐ रूप छूटती है। ऐसे साक्षात् प्रभु वर्तमान में पंच महाविदेह में विराजमान हैं। उसके देहकी स्थिति पूरी होने पर, अयोगी, अबन्ध अवस्था पूर्ण कर सिद्ध शिला ऊपर शाश्वत आनन्द में विराजते हैं।:—

"सर्व जीव छे सिद्ध सम, जे समझे ते थाय।"

प्रत्येक आत्मा में अनुपम, अतीन्द्रिय, वेहद सुख शक्तिरूप में है, स्वभाव ही सुखरूप है, स्वाधीन है। यदि वह शक्ति न हो तो कभी प्रकट नहीं हो सकती। आत्मशक्ति पूर्ण है ही उसही प्रकार के श्रद्धा, ज्ञान, और चारित्र द्वारा ही वह प्रगट हो सकती है। अन्य उपाय से मोक्ष नहीं हो सकता। इससे यह निश्चित हुआ कि पुण्य से नहीं, मन के शुभ-परिणामसे नहीं, शरीर से नहीं किन्तु आत्मा में ज्ञान प्रकट करने और ज्ञानरूप स्थिर होने से मोक्षमार्ग और मोक्षदशा होती है ऐसा आया।

श्रीमद् रायचन्द्र इसप्रकार की भावना आंतरिक स्थिरता पूर्वक करते थे, वह भावना एक भव बाद पूर्णता प्राप्त करने की थी, इसका उन्हें पूर्ण विश्वास था। 'अपूर्व अवसर' में श्रीमद् ने साधक स्वभाव का यथार्थ वर्णन किया है, क्रमसर उसके श्रेणी विकास का कथन किया है। दर्शनमोह के क्षय होने के बाद साधकदशा में आगे बढ़ते हुए क्षपक श्रेणी द्वारा आठवांगुणस्थान से चारित्र मोह कर्म के उदयका क्षय होता जाताहै। बारहवाँ गुणस्थान क्षीण मोह है। चार घातिया कर्मों के क्षय होने पर सर्वज्ञ पद-तेरहवां गुणस्थान प्रकट होता है और तत्पश्चात् चौदहवां 'अयोगी' गुणस्थान प्रकट होता है। ऐसी महा-भाग्यवान पूर्ण सुखदायिका अबन्ध दशा प्रकट हो, ऐसा स्वकालरूप अपूर्व अवसर कब आवे, ऐसी भावना इस गाथा में की गई है ॥१७॥

अब सिद्ध पद प्राप्त होने पर आत्मा की कैसी अवस्था होती है, बताते हैं:—

एक परमाणु मात्रनी मले न स्पर्शता,
पूर्ण कलंक रहित अडोल स्वरूप जो;

शुद्ध निरंजन चैतन्यमूर्ति अनन्यमय,
अगुरुलघु अमूर्त सहज पद रूपजो। अपूर्व ।१८।

जैसे आँखों में एक अन्य रजकण भी अच्छा नहीं लगे उसी प्रकार भगवान आत्मा अतीन्द्रिय ज्ञानघनस्वरूप सघन है उसमें किसी अन्य परमाणु मात्र का भी स्पर्श नहीं है। उस स्वरूप को भूलकर आत्मा को पुण्य वाला, राग द्वेपादि चिकनाई वाला, स्पर्श वाला या वन्धन वाला मानना मिथ्यादर्शन शल्य है। आत्मा स्वभाव से सिद्ध भगवान तुल्य है इससे वह अविनाशी, शुद्ध चैतन्यमात्र, ज्ञाता-दृष्टा, पूर्ण शान्ति, समता और आनन्द स्वरूप शक्तिरूप है; वह शक्तिरूप से व्यक्त असीम, स्वाभाविक पूर्णरूप निर्मलदशा प्रगट होने से एक परमाणु मात्र भी संयोग संवन्ध नहीं रहता ऐसा वस्तु का सहज स्वभाव है। ऐसे अवन्ध स्वभाव की यथार्थ प्रतीति जिस आत्मा में है वह एक रजकण मात्र का भी वन्ध स्वीकृत नहीं करता, यह सम्यग्दर्शन का स्वरूप है ऐसे निःशंक अभिप्राय को स्थिर रखने की सामर्थ्य चौथे गुणस्थान से प्रारम्भ होती है।

मैं सिद्ध समान शुद्ध, अवन्ध हूँ, शुभ या अशुभ कर्म के किसी भी रजकण का मेरे सम्वन्ध नहीं है। इस दृष्टि से पूर्ण होनेके लक्ष्यमें स्वरूप का उत्साह वढ़ाता है और इस–दृष्टि का चिन्तन अभ्यास वढ़ने से सम्यक्त्व सहित अप्रतिहत भाव से चारित्र की रमणता में स्थिर उपयोग में एकाग्रता वढ़ने से क्रमशः परमावगाढ सम्यक्त्व और यथाख्यात चारित्र प्रकट होता है तव निश्चल, पूर्ण पवित्र वीतरागदशा रूप शुद्धस्वभाव प्रगट होता है।

भगवान आनन्दघन चैतन्य प्रभु में एक परमाणु मात्र का भी स्पर्श नहीं है, उसमें उपाधि का अंश भी नहीं है ऐसा उसका मूल स्वरूप है इसलिए उस प्रकार की श्रद्धा, ज्ञान और स्थिरता द्वारा अपना पद प्रकट होता है ऐसा अपूर्व अवसर कब आवे उसकी यहाँ भावना की गई है।

धर्मात्मा निश्चयनय से अपने को अबन्ध, शुद्ध मानता है और साथ ही उस प्रकार की निशंक श्रद्धा स्थिर रखने का पुरुषार्थ बढ़ाता रहता है। उसे अशरीरी बनने के लिए मात्र मोक्ष की ही उसे अभिलाषा है। इसलिए उसे संसार के किसी पदार्थ या पुण्यादि की इच्छा भी नहीं है। उपाधि द्वारा अपने स्वरूप पहचानने को धर्मात्मा शरम मानता है और अज्ञानी जीव अपने 'अहं' को बढ़ाते हुए इसप्रकार उल्टी मान्यता करता है कि मैं सुन्दर हूँ, पुण्यवान, धनी, कुटुम्बी इज्जतदार हूँ।

आत्मा अतीन्द्रिय, निराकुल, शान्त, समतास्वरूप, पर से भिन्न है; उसे भूलकर उपाधि में सुख की कल्पना करना और अपनी जाति से भिन्न जड़ कर्म की विकारी अवस्था से आत्मा को पहचानना महाकलंक है। पुण्य भाव भी पवित्र चैतन्यमूर्ति ऊपर अपवित्र मोटी फुन्सी के समान है, चैतन्य निरोगी तत्त्व है उसे कर्म की उपाधियुक्त जानने का धर्मात्मा को खेद है। वह निरन्तर यही भावना करता है कि मैं अशरीरी, मुक्तदशावाला कैसे बन जाऊँ। देहात्म बुद्धिवाले जीव को परवस्तु में सुख बुद्धि रहती है, वह देहादि की ममता और उसकी अनुकूलता के परिपोषण में ही अपना जीवन मानता है और अपनी समस्त शक्ति का दुरुपयोग करता है।

जब कि धर्मात्मा मुनि जंगल में एकाकी, देहकी ममता रहित होकर विचरण करते हैं। उस अवस्था में कभी सिंह उनके शरीर को फाड़ डाले, चाहे शरीर छिन्न-भिन्न हो जाओ या इस शरीर का चाहे जो कुछ होओ उससे ज्ञान और समाधि में कोई बाधा नहीं है ऐसा वे मानते हैं ऐसे अवसर पर जिन्होंने आत्मा की अनन्त शक्ति प्रकट कर पूर्णता प्राप्त की या करेंगे वे धन्य हैं, ऐसा होने पर ही मनुष्य शरीर धारण करने की सार्थकता है। इस प्रकार धर्मात्मा शरीरकी ममता छोड़ कर मुक्त होने की भावना को बलवती-दृढ़ करता है। उसे एक क्षण भी संसार में रहने या शरीर को रखने की रुचि नहीं है। वह अपने स्व-रूप के लक्ष्य में जिनाज्ञा चिन्तन और रुचि बढ़ाते हुए और अबन्ध भाव स्थिर रखते हुए प्रतिक्षण अनंत कर्मों की निर्जरा करता है और मोक्षमार्ग की साधना करता है। वह मोक्ष की ओर अग्रसर होता जाता है जब कि अज्ञानी जीव बन्धभाव करता हुआ संसार की चार गतियों में भ्रमण करने की ओर बढ़ता है।

किसी को शंका हो कि निगोद, नरक, देवलोक आदि नहीं है उन सबके एवं परलोक आदि की स्थिति अनेक न्याय दृष्टान्त, युक्ति और प्रमाण से सिद्ध हो सकती है।

'आत्मा नित्य है' इस सिद्धान्त को भूलकर यह जीव अपनेको शरीरादि की योग्यता वाला, रागद्वेष युक्त, पुण्यवाला, बन्धवाला मानता रहा है किंतु उसने अपने को स्वाधीन, निर्दोष, ज्ञाता, दृष्टा, पर से भिन्न नहीं माना इसलिए वह परवस्तु से प्रेम करता है, वह पुण्य, देहादि द्वारा अपने को पहचानने में हर्ष मानता है। देह, पुण्यादि तो चेतन के सिर पर कलंक स्वरूप हैं कलंक को शोभा स्वरूप मानने से

उसका छुटकारा कैसे हो ? इसलिए सर्वप्रथम तत्त्व समझने का प्रयत्न करना जरूरी है। आत्मा त्रिकाल शुद्ध, अबंध स्वभाववाला है, उसे पर निमित्तसे बन्धवाला अपूर्ण, हीन या विकारी मानना सब से भारी पाप–(मिथ्यादर्शन) है, स्वरूप की हिंसा है और अनन्त भव भ्रमण का मूल कारण है। प्रत्येक पदार्थ सत् है; 'है' वह त्रिकाल होता है, स्वतंत्र होता है; कोई भी वस्तु स्वभावमें विकार स्वरूप नहीं है। जैसे सोना में तांबा हो उससे सोने का स्वरूप मलिन नहीं होता उसीप्रकार आत्मा का स्वभाव शुद्ध है, अबन्ध है, उसे भूलकर जीव ने परके निमित्तको स्वीकार किया है और माना है कि मैं बंधवाला हूँ, रागवाला हूँ किन्तु यदि ऐसा हो तो जीव कभी बन्धन से छूट नहीं सकता, क्रोध को दूर कर क्षमा नहीं कर सकता, किन्तु सच्चे पुरुषार्थी क्षमा द्वारा क्रोध हटा सकते हैं।

जो संसार के प्रेम को छोड़कर परमार्थ के लिए निवृत्ति नहीं ले उसका जीवन व्यर्थ है। जिसने अपने पूरे जीवन में आत्मा संबंधी विचार और सत्समागम नहीं किया उसे आत्मा की रुचि कैसे हो ?

श्रीमद् रायचन्द्र ने छोटी आयु में ही लिखा था कि मैं कौन हूँ ? कैसे हुआ ? मेरा असली स्वरूप क्या है ? जिसने इस प्रकार के विचार अंतर से जाग्रत किये उसके संसार का अन्त कैसे नहीं हो ? अनन्त काल की अशांति की, पराधीनता की जिसे हार्दिक वेदना हो उसे अपने आत्मा की दया आती है और अपने में योग्यता उत्पन्न कर अपने को शुद्ध स्वरूप के सन्मुख करता है।

श्रीमद् जवाहरात का व्यापार करते थे किन्तु फिर भी वे निवृत्ति चाहते थे और अपूर्व भावना करते थे कि मेरा शरीरादि से

मिलन नहीं है। देहादि संयोग और विकार कोई भी उपाधि मुझे नहीं चाहिये, पूर्ण शुद्धात्मा के अतिरिक्त मेरा कुछ भी नहीं है। मेरा पूर्ण सिद्ध पद कब प्रकटे इस उद्देश्य से इस प्रकार का पुरुषार्थ वे निरंतर करते थे। इस अपूर्व रुचि और पूर्ण पवित्र होने की भावना का उत्साह और केवल निज स्वभाव में अखंड रूप से रहने की भावना का यह सुफल है कि वे एक भव बाद मोक्ष दशा को प्रकट कर पूर्ण पवित्र, निराकुल शांति स्वरूप में अपने अनंत आनन्द को प्राप्त करेंगे।

लोग सुख चाहते हैं किन्तु उसके कारणों को मिलाते नहीं हैं; वे दुख को नहीं चाहते किन्तु दुख के कारण स्वरूप 'मोह' को नहीं छोड़ते। शरीरादि की ममता छोड़ना नहीं चाहते; वे शीशे में अपना रूप (शरीर) देख कर खुश होते हैं, वे शरीर को ठीक रखने के लिए अहंभाव करते हुए अनेक विचित्र कल्पना करते हैं और उपाधि में सुख मानते हैं और इस अपवित्र शरीर को सर्वस्व मानकर पागल होते हैं और आकुलता को सुख मानते हैं। ज्ञानी ऐसे जीवों को कहते हैं कि हे जीव! तूँ देह, रागद्वेष, और पुण्य-पापादि से भिन्न है एकवार इस जड़ प्रकृति के वस्त्र से (सर्व परभाव से) भिन्न हो तो मालूम होगा कि तेरे स्वभाव में उपाधि रंचमात्र भी नहीं है। एक वार मोह भाव से अलग होकर अपने स्वरूप के सन्मुख हो तो तेरा चैतन्य भगवान् ही तेरी रक्षा करेगा अर्थात् तूँ स्वरूप में सावधान रह सकेगा। ऐसी वस्तु स्थिति प्रकट कर दिए जाने पर भी मोही जीवों को संसार की उपाधि का प्रेम नहीं छूटता जब कि ज्ञानी धर्मात्मा अपनी असंग अवस्था प्रकट करने की भावना करता है कि

"एक परमाणुमात्रनी मले न स्पर्शता, पूर्ण कलंक रहित अडोल स्वरूप जो; शुद्ध निरंजन चैतन्यमूर्ति अनन्यमय" ऐसा मैं कब होऊंगा ?

जो इस प्रकार की भावना करते हुए जाग्रत जीवन व्यतीत करते हैं वे मनुष्य भव में रह कर अपनी स्वाधीन दशा प्रकट कर धर्मरूपी तत्त्व प्राप्त करते हैं और करेंगे। संसार की रुचि छोड़े विना यह परम तत्त्व कैसे समझा जावे ? जिसे पुण्यादि परवस्तु में सुख बुद्धि है उसे संसार से अरुचि और सच्ची समझ कैसे हो ? स्वरूप की पहिचान हुए विना विपरीत भाव दूर नहीं होता, इसलिए सर्व प्रथम शरीरादि की ममता कम कर सत्समागम करना आवश्यक है। अनादि काल से मोह निद्रा व भूल में पड़ा हुआ यह चैतन्य एक बार भी जाग्रत हो कर ऐसा विचार करे कि 'मैं सर्व उपाधि रहित हूँ, कर्म कलंक से भिन्न असंग हूँ, रागद्वेष, पुण्य पापादि परमाणु मात्र मेरे स्वभाव में नहीं है'। (पराश्रय की श्रद्धा छोड़कर) ऐसे स्वभाव का ज्ञान कर पूर्ण पवित्रता के अपूर्व स्वभाव का अनुभव कर यह जीव यह कहे कि मैं वैसा ही हो जाऊँ। इस प्रकार का अतीन्द्रिय पुरुपार्थ पूर्णता प्राप्ति के लक्ष्य से कर, इस प्रकार की भावना की रुचि द्वारा स्वरूप की स्थिरता कर अनंत जीव पूर्ण कलंक रहित, शाश्वत, सहजानंद स्वरूप मोक्ष दशा को प्राप्त किए हैं, करते हैं और करेंगे।

अब 'शुद्ध निरंजन चैतन्यमूर्ति अनन्यमय' पद की व्याख्या की जाती है—

'शुद्ध निरंजन' अर्थात् मलादिक विकार का अंजन न होना।

चैतन्यमूर्ति—इस शब्द में 'चिद्' धातु है उसका अर्थ यह है

कि केवलज्ञान का पिंड। जैसे नमक का डला एक क्षार रस की लीला के अवलंबन द्वारा क्षार रस से ही पूर्ण रूप से भरा हुआ है उस ही प्रकार जो एक ज्ञान स्वरूप का अवलम्बन करता है वह केवलज्ञान रससे भरपूर भरा हुआ अपने को अनुभव में श्रद्धा में लाता है उस स्वभाव को खंडित करने में कोई समर्थ नहीं है वह शक्तिरूप निज-भाव स्वभाव से ही प्रकट होता है उसे किसी ने बनाया नहीं है।

हमेशा जिसका ज्ञानानंद विलास प्रकट है, वह अरूपी पदार्थ चैतन्य है इससे यह जीव सिद्ध परमात्मा प्रगट चैतन्यमूर्ति कहलाता है।

'अनन्यमय'=जिस जैसा अन्य कोई नहीं। सिद्धात्मा शुद्ध, बुद्ध एक स्वभाव को धारण करनेवाला है। प्रत्येक आत्मा भी शक्ति रूप से सिद्ध परमात्मा जैसा है।

"अगुरु लघु अमूर्त सहज पदरूप जो' पद की व्याख्या इस प्रकार है—

अगुरुलघु नामक एक गुण है जो सब छह द्रव्यों में है। आत्मा और ज्ञानगुण अभेद वस्तु हैं। उस ज्ञान गुण में आत्मा के अनंत गुण धर्म सन्निविष्ट हो जाते हैं; उसकी चेतनरूप अवस्था अनादि और अनंत कालीन है। इस जीव द्रव्य का परिणमन उत्कृष्ट रूप से हीन रूप हो तो वह निगोद में जावे, वहाँ ज्ञान शक्ति बहुत ढक जाती है तो भी उसके अपने गुण का एक अंश भी जड़रूप नहीं होता और पूर्ण शुद्ध स्वभाव प्रकट होने पर स्वगुण का पूर्ण परिणमन होते हुए भी अपने एक रूप स्वद्रव्य की मर्यादा उल्लंघ कर अन्य द्रव्य में या अन्य आत्मा के प्रदेशों में प्रविष्ट नहीं होता

ऐसा परिणमन अगुरुलघु गुण के कारण से होता है। कोई गुण या कोई द्रव्य अन्यरूप न हो यह भी अगुरुलघु गुण का कार्य है।

जीव वर्ण-गंध-रस-स्पर्श रहित अमूर्त स्वरूप है।

आत्मा सहज स्वभाव में अनंत आनंद स्वरूप है उसे प्रकट करूँ ऐसी भावना होती है; स्वाभाविक सिद्ध स्वरूप पूर्ण आत्मपद जो अविनाशी सहजानंद शुद्ध स्वरूप है वह स्थिति शीघ्र प्रकट हो यह भावना इस गाथा में की गई है।

आत्मा चौदहवें गुणस्थान से छूट कर अपने ऊर्ध्वगमन स्वभाव के कारण से लोक के अग्रभाग में स्थिर होता है। आत्मा सूक्ष्म और हल्का है इसलिए उसका ऊर्ध्वगमन स्वभाव है। और संपूर्ण शुद्धत्व होने पर भी लोक का द्रव्य होने से वह एक समय में लोकाग्र तक पहुँचता है।

यहाँ शंका उठती है कि आत्मा का ऊर्ध्वगमन स्वभाव है वह अब तक ऊपर क्यों नहीं गया? इसका समाधान यह है कि प्रत्येक जीव उच्चता चाहता है, किन्तु अपने अज्ञान के कारण देहादि परवस्तु में रागद्वेष मोहद्वारा उपाधिरूप कर्म बंधन में अटका हुआ है। जब तक जीव स्वसन्मुख पूर्णरूप से स्वरूप स्थिरता नहीं करे तब तक उसका ऊर्ध्वगमन स्वभाव प्रकट नहीं होता। जो मोक्ष स्वभाव पहले शक्ति रूप में था वह जीव के पूर्ण शुद्ध होने पर प्रकट होता है और उसी समय ऊर्ध्वगमन स्वभाव नामक शक्ति प्रकट होती। देहादि कर्म बंधन से छूटने के बाद आत्मा नीचे नहीं रह सकता। आत्मा अरूपी, सूक्ष्म हल्का है, हल्का पदार्थ ऊपर ही

जावे। मिट्टी लगी हुई तूँबी कूए में डालने पर नीचे जाती है किन्तु मिट्टी उतर जाने पर वह तूँबी ऊपर आजाती है उसी प्रकार चैतन्य भगवान आत्मा के कर्म पुद्गल का परमाणुओं का संबंध था किन्तु उसको ज्ञान ध्यान से दूर कर दिया तब यह आत्मा पूर्ण कलंक रहित स्वरूप में लोक के अग्र भाग में अचल विराजमान होता है। १८।

सिद्ध पर्याय प्रकट होते समय आत्मा की कैसी दशा होती है यह बताते हैं—

पूर्व प्रयोगादि कारणना योगथी,
ऊर्ध्वगमन सिद्धालय प्राप्त सुस्थित जो;
सादि अनंत अनंत समाधि सुखमाँ,
अनंत दर्शन ज्ञान अनंत सहित जो।अपूर्व०।१९।

अनादिकालीन अज्ञानभाव को दूर करने से सम्यग्दर्शन प्रकट होता है। और तभी से पूर्ण शुद्धता (मोक्ष स्वभाव) की अवस्था प्रकट करने के लिए स्वस्वरूप में रहने का अर्थात् ज्ञान की स्थिरता का पुरुषार्थ जीव प्रकट करता है। यह गुण श्रेणिरूप अंतरंग ज्ञान में प्रयत्न वह पूर्व प्रयोग है और उसके द्वारा पूर्ण शुद्ध स्वरूप प्रकट हुआ इससे सहज ही आत्मा का ऊर्ध्वगमन हुआ। क्षेत्रनिमित्त की अपेक्षा जीव सिद्धालय क्षेत्र को पाता है ऐसा कहना व्यवहार है क्योंकि वह आकाश क्षेत्र है। वास्तव में मुक्त जीव स्वक्षेत्र रूप निश्चल स्वभाव में सादि अनंत स्थिर रहते हैं। जीव एक समय में लोक के अग्रभाग में पहुँच कर जीव, स्वद्रव्य में स्थिर रहता है।

शास्त्रों में पूर्व प्रयोगादि के चार दृष्टान्त कहे गए हैं—

१ कुम्हार के चाक की तरह पूर्व प्रयोग से, आत्मा ऊपर जाता है।

२ ऐरंड का बीज सूर्य के ताप में सूख कर चटकता है तब उसकी मींजी आकाश में ऊँची जाती है उसी प्रकार कर्मावरण का डिब्बा चैतन्य के वीतरागता के ताप से खुला तब आत्मा सहज कोई ही आकाश में ऊँचा गया और फिर नीचे आने का किसी भी कर्म निमित्त नहीं रहा।

३ अग्निशिखा—जैसे अग्नि की ज्वाला आकाश की तरफ ऊँची जाती है उसी प्रकार आत्मज्ञान ज्योति ऊपर जाती है।

४. १८ वीं गाथा में वर्णित तूँबी के दृष्टांत की तरह आत्मा कर्म रहित होकर ऊपर जाता है। यह ध्यान रखना चाहिए कि दृष्टांत एक देशी होते हैं वे सब प्रकार से लागू नहीं होते।

'सिद्धालय प्राप्त सुस्थित जो'—चैतन्यरूप सिद्धात्मा का स्वक्षेत्र असंख्यात प्रदेशी है; वह अपने राज्य में, शिव सुख में सुशोभित पुरुषाकार में अरूपी घन चैतन्यमूर्ति अपने स्वरूप-सिद्ध क्षेत्र-में निश्चल निराबाधरूप से सदा ही स्वतंत्ररूप से स्थिर रहता है। फिर जन्म मरण नहीं है यह त्रिकाली नियम है।

'सिद्धालय प्राप्त सुस्थित जो'—अपने आत्मा में अच्छी तरह स्थित रहना। सिद्ध क्षेत्र में अनंत सिद्ध जीव हैं तब भी एक आत्म-द्रव्य अन्य आत्मद्रव्य में मिलता नहीं है किन्तु सब आत्मा स्वतंत्ररूप से स्वसत्ता को स्थिर रखते हुए नित्य रहते हैं। किस प्रकार? ऐसे जैसा कि कहा है—

'सादि अनंत अनंत समाधि सुख माँ
अनंत दर्शन ज्ञान अनंत सहित जो ।'

आत्मा में मोक्ष पर्याय शक्तिरूप से था उसका उत्पाद हुआ अर्थात् मोक्ष स्वभाव प्रकट हुआ। वह परमात्म पद प्रकट हुआ वह 'आदि' हुई, अब यह आत्मा अनंतकाल पर्यंत शाश्वत सिद्ध पद में अपना अनंत सुख भोगेगा अर्थात् निराकुल स्वभाव का अव्याबाध आनंद लेगा इससे वह अनंत है।

जीव सुख चाहते हैं, वह अनंत सुख-आरोग्य सद्‌दर्शन और ज्ञान प्राप्ति से मिलता है इसलिए सर्व प्रथम सम्यग्दर्शन का उपाय करो। सम्यग्दर्शन होने से समाधि प्रकट होती है। समाधि का अर्थ है अपने शुद्धात्मस्वरूप का यथार्थ अनुभव हो और अंत में समाधिमरण होता है जिसमें पंडित वीर्य सहित पूर्ण ज्ञान और स्वरूप की स्थिरता सहित शरीर छूटता है और पूर्ण स्वरूप समाधि सादि अनंत सुख में सदा स्थिर रहने में है ऐसे अपूर्व अवसर की भावना यहाँ की गई है।

आत्मा का स्वभाव अनंत आनन्द सुखरूप है। पूर्ण शुद्ध स्वरूप की श्रद्धा, ज्ञान और स्थिरता द्वारा शक्तिरूप विद्यमान मोक्ष स्वभाव प्रगट होने पर सहज आनंद का स्वाद आता है। क्योंकि वह सच्चा सुख स्वात्मा से उत्पन्न है, अविनाशी है।

चने का दृष्टांत—जैसे कच्चा चना स्वाद में कडुआ लगता है और बो देने पर उगता है किन्तु जब उसको सेक कर खावे तब स्वाद में मीठा लगता है और बोने पर नहीं उगता। चने का वह मिठास धूप में से कढ़ाई से या अग्नि में से प्रकट नहीं हुआ वह चने में से

ही प्रकट होता है; उसी प्रकार श्रद्धा, ज्ञान की स्थिरता से कर्म बंधन की चिकनाई दूर कर वीतराग दशा प्रकट करे तो अपना अनंत आनन्द जो शक्तिरूप में है, वह प्रकट होकर स्वाद दें और फिर संसार बीजरूप जन्म धारण करना नहीं हो।

प्रश्न—शक्कर खाने पर उसके मिठास का स्वाद आत्मा को कैसे आवे ?

उत्तर—आत्मा कहीं मीठा नहीं होता। आत्मा सदा अरूपी होने से स्पर्श नाम का मूर्तिक गुण उसमें नहीं है, आत्मा मीठापन का ज्ञान करता है उससे आत्मा में जड़ का स्वाद प्रविष्ठ नहीं होता, शक्कर का स्वाद कोई नहीं लेता किन्तु उसके स्वाद को ज्ञानी जानता है और अज्ञानी उसमें राग करता है। शक्कर जड़-रूपी है आत्मा अरूपी है। "मैं मीठा स्वादवाला हूँ" यह मान कर अज्ञानी राग का अनुभव करता है अर्थात् तत्सम्बन्धी विपरीत ज्ञान कर रागरूप हर्ष को भोगता है। राग दुःख है, जब कि आत्मा का स्वभाव शांत एवं आनन्दमय है किन्तु अपने को भूलकर 'मैं परका सम्बन्धरूप उपाधिवाला हूँ, अशांतिवाला हूँ' ऐसा अज्ञानी जीव मानता है तो भी उसका जो आनंद शांतिस्वभाव है वह दूर नहीं होता। जैसे कच्चे चने में स्वाद अप्रकट है जो कि उसके सेकने पर उसमें से ही प्रकट होता है उसी प्रकार चेतन में आनंद, शांति, असीम सुख शक्तिरूप में है जो यथार्थ विधि से प्रकट होता है।

भगवान आत्मा केवल आनंदमूर्ति है, जो भूलकर उसे न्यून, हीन या विकारी मानता है वह रागद्वेष का कर्त्ता होता है

और पर से, सुख दुख की कल्पना कर व्याकुल बन, हर्ष शोक को भोगता है। जीव अपने ज्ञान में अस्थिरता भोगता है किन्तु कोई भी आत्मा पर को नहीं भोगता है। स्त्री, धन, इज्जत, देह, रागद्वेषादि या कोई भी वस्तु आत्मा में प्रविष्ट नहीं होती। स्वयं अतीन्द्रिय और शाश्वत होते हुए भी अज्ञानी अपने को भूलकर परवस्तु में रागद्वेष द्वारा अपनत्व मानता है और हर्ष-शोक रूप अपनी विकारी अवस्था को भोगता है। विच्छू काटे जब दुख होता है तब ज्ञानी यह मानता है कि यह देह की ममता का राग है। बिच्छू के जहर का परमाणु-रूपी रजकण अरूपी आत्मा में प्रविष्ट नहीं होता किन्तु अज्ञानी आत्मा अपने को भूलकर देह में आत्मा का आरोप कर 'मैं दुखी हूँ' ऐसा मानता है। वह स्वयं अपने को पररूप होना मानता है किन्तु वह वैसा नहीं हो जाता। यदि वह परभावरूप हो जावे तो क्षमा, शांति, आनंद, ज्ञान आदि स्वगुणमय नहीं हो सकते।

आत्मा ज्ञानत्व से सदा प्रकट है तो भी उसमें अन्य मानना या पर का कर्तृत्व या भोक्तृत्व मानना अज्ञान भाव है। वह अज्ञानमय भाव क्षणिक होने से ज्ञानमय भाव द्वारा दूर हो सकता है। इससे सिद्ध होता है कि मोक्ष आत्मा का स्वभाव है किन्तु बन्ध उपाधिभाव है वह स्वभाव नहीं है। अनंत आनन्द, अनन्त सुख, अनंत श्रद्धा और अनंत वीर्य से आत्मा परिपूर्ण है। जिसका सहज स्वभाव शुद्ध ही है उस स्वभाव की सीमा-अन्त क्या? यह निज तत्त्व जैसा है वैसा पहचाने और उसकी रुचि करे और उसी प्रकार के पुरुषार्थ द्वारा स्थिरता करे तो यह आत्मा पूर्ण कृतकृत्य होकर सहज स्वतंत्र सुखदशा प्रकट करे

शास्त्र में कहा जाता है कि सब जीवात्मा सुख चाहते हैं किन्तु वे सुख के कारणों का संयोजन नहीं करते। अनंतसुख के कारण सम्यक्दर्शन, सम्यक्ज्ञान और सम्यक्चारित्र हैं। संसारी जीवों ने उस मार्ग को कभी ठीक रूप में सुना नहीं; कभी अपनाया नहीं। अतः वे सुख तो चाहते हैं किन्तु सुख का सच्चा उपाय नहीं करते। वे दुख को नहीं चाहते किन्तु दुख के कारणों को नहीं छोड़ते। दुख का दूसरा नाम अशांति है उस अशांति का कारण अज्ञान अथवा दर्शनमोह-मिथ्यात्व है, स्वरूप की भूल है। उस विपरीत मान्यतारूप अज्ञान का अभाव सम्यग्दर्शन और सम्यक्ज्ञान से ही होता है।

पुण्य-पाप और रागद्वेषरूप उपाधि से भिन्न ऐसी स्वरूप की स्थिरता सत्य पुरुपार्थ द्वारा पूर्ण रूप से प्रकट होती है और उससे निराकुलरूप सुख दशा प्रकट होती है। निराकुलता का तात्पर्य आधि, व्याधि और उपाधि रहित शांति से है।

आधिः—मन के शुभाशुभ विकल्परूप विकारी कार्य अर्थात् चैतन्य की अस्थिरता।

व्याधिः—शरीर की रोगादि पीड़ा।

उपाधिः—स्त्री, धन, पुत्र इज्जत आदि की चिन्ता।

उपरोक्त आधि, व्याधि और उपाधिरूप आकुलता रहित सहजानन्दरूप सुख दशा है उस अनंत समाधि सुख में अनंत सिद्ध भगवान विराजमान हैं।

'अनंतदर्शन, ज्ञान अनंत सहित जो'। आत्मा में अनंतवीर्य

(स्वसामर्थ्य विशेषरूप बल) होने से उसके समस्त गुण अनंतशक्ति वाले हैं जैसे चने में स्वाद था वह चने में से ही प्रकट होता है। आत्माने अनंत आनंद दर्शन ज्ञान शक्ति को भूलकर विपरीत परिणमन किया है वही आत्मा अनंत स्वाधीनता का भान कर अनंत दर्शन ज्ञान वीर्य और आनन्द को शक्ति में से प्रकट कर सकता है किन्तु जब तक अपने स्वरूप का भान नहीं है तब तक वह स्वतंत्रतया पराधीन है और उसीसे वह दुखी है, पराधीन को स्वप्न में भी सुख नहीं है।

ज्ञानी धर्मात्मा एक परमाणु से लेकर इन्द्रपद चक्रवर्तीपद मिले ऐसी किसी भी प्रकार की पुण्य की पराधीनता की इच्छा नहीं करता इसी से पूर्ण ताकत को स्वाधीन मानकर स्वाधीनता का पुरुषार्थ करने से मोक्ष स्वभाव प्रकट होता है। ज्ञानी शुभ विकल्प भी नहीं चाहता क्योंकि शुभ परिणाम भी बाधक है।

पुण्य पाप रूप रागद्वेष का अवलम्बन पराधीनता है। इससे ज्ञानी कहता है कि संसारी जीव सुख चाहते हैं किन्तु जो सुख का मार्ग–स्वाधीनता का उपाय है उसे भूलकर पराधीनता का कार्य करे तब उससे स्वाधीनता का फल कैसे प्रकटे ? विकारी रागरूप कारण में से अविकारी वीतराग कार्य नहीं प्रकटता। अतः प्रथम सच्ची समझ पूर्वक आत्मा की रुचि करने की जरूरत है। यहाँ सम्य-ग्दर्शन सहित पूर्ण शुद्ध स्वरूप की रुचि और तद्रूप पुरुषार्थ स्वरूप 'अपूर्व अवसर' की प्राप्ति की भावना है।

'अनंत दर्शन, ज्ञान अनंत सहित जो।'

चेतना आत्मा का गुण है वह दो प्रकार का है।

१–दर्शन चेतना:—इसका व्यापार निर्विकल्प, निराकार सामान्य प्रतिभास है।

२–ज्ञान चेतना—इसका व्यापार सविकल्प, साकार और विशेष प्रतिभास हैं। दर्शन का लक्षण सामान्य सत्तामात्र अवलोकन है उसमें स्वपर का भेद नहीं है।

अब दर्शनोपयोग की व्याख्या की जाती है—

एक पदार्थ संबंधी ज्ञान का विकल्प छूटकर दूसरे पदार्थ की तरफ उत्सुकता जैसा झुकाव हुवा और अब जहाँ तक दूसरा पदार्थ सम्बन्धी ज्ञान नहीं हुआ, उस बीचके (अल्प समय में) सामान्य प्रतिभासरूप दर्शन चेतनामय उपयोग होता है यह व्याख्या छद्मस्थ जीवके दर्शन उपयोग की है; सिद्ध भगवान और केवलज्ञानी सर्वज्ञ के एक ही समय में ज्ञान और दर्शन उपयोग एकसाथ वर्तते हैं। जो अनन्त सामर्थ्य स्वरूप दर्शन और ज्ञान उपयोग युगपत् है। उसमें विश्व के समस्त जीव अजीव द्रव्यों का सामान्य-विशेष सर्वभाव एक समय मात्र में सहज जाने जाते हैं। निश्चय से सर्वज्ञ के अनन्त दर्शन ज्ञान की असीम शक्ति है और अनन्त सुख है तथा समस्त गुणों को स्थिर रखने वाला अनन्त वीर्य (बल) नामक गुण है। ऐसे अनन्त गुणोंवाली पूर्ण परमात्म दशा प्रकट हो ऐसा 'अपूर्व अवसर' कब आवे ? इसकी यहाँ भावना की गई है।१६।

जे पद श्री सर्वज्ञे दीठूँ ज्ञान माँ
कही सक्या नहीं पण ते श्री भगवान जो

तेह स्वरूपने अन्य वाणी ते शूँ कहे
अनुभव गोचर मात्र रह्यु ँ ते ज्ञान जो ।अ०।२०।

केवली भगवान ने तेरहवें गुणस्थान में जो लोकालोक का संपूर्ण स्वरूप जाना है उसे वे स्वयं भी वाणी द्वारा पूर्ण रूपसे व्यक्त नहीं कर सके हैं क्योंकि वाणी जड़ है जो जितना ज्ञानगम्य है उतना वचन में आता नहीं। जो स्वरूप सर्वज्ञ भगवान ने केवलज्ञान में पूर्णतया जाना है किन्तु वाणी द्वारा तो साक्षात् तीर्थंकर भगवान भी पूर्णतया कह सकते नहीं; सर्वज्ञ भगवान स्व-पर सर्व आत्मा को प्रत्यक्ष जानते हैं, छद्मस्थ ज्ञानी परोक्ष ज्ञान द्वारा जानते हैं किन्तु केवलज्ञान के समान प्रत्यक्ष नहीं जान सकते, फिर भी अपनी आत्मा को लक्ष्य में लेकर स्वानुभवद्वारा अपने स्वरूप की शान्ति-आनन्द को स्वसंवेदन प्रत्यक्ष से जानते हैं, आनन्द का प्रत्यक्ष अनुभव कर सकते हैं। स्वसन्मुखतारूप भावश्रुतज्ञान उपयोग की स्थिरता के समय जो आनन्द वह संवेदन अपेक्षा प्रत्यक्ष है किन्तु आंशिक प्रत्यक्ष अनुभव होता है। (सर्वथा प्रत्यक्ष तो केवलज्ञान में ही है।) जैसे अंधा मनुष्य शक्कर खावे और उसका मिठास अनुभवे किन्तु उसका आकार नहीं देख सकता उसी प्रकार चौथे व आगे के गुणस्थानों में आत्मा के आनन्दका आंशिक अधिकाधिक अनुभव होता है किन्तु उन गुणस्थानों में आत्मप्रदेश प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर नहीं होते।

केवलज्ञान प्रकट होने पर अनन्तदर्शन, अनंतज्ञान, अनंत-सुख और अनंतवीर्य प्रकट होते हैं। वे केवली यदि तीर्थंकर हों तो उनके ॐ रूप आत्मा को प्रकाशित करने वाली दिव्य ध्वनि सहज ही

खिरे। उनकी अपनी इच्छा विना भाषा सहज ही प्रस्फुटित होती है। भगवान आत्मा का अरूपी ज्ञानघनस्वभाव है उसे तथा छः द्रव्यों में सन्निहित अनंत धर्म हैं उसको अनेकान्तपना न्याय से समझाते हैं।

वाणी द्वारा अल्प संकेत मात्र किया जा सकता है और चतुर पुरुष उसे समझ लेता है। अनंत जड़ रजकणों से निर्मित वाणी द्वारा आत्मा का वर्णन पूर्ण रूप से नहीं हो सकता किन्तु भव्य जनों के अनंत उपकार की निमित्त रूप अद्भुत वाणी का योग तीर्थंकर भगवान के होता है। गणधर देव ने उस वाणी के आधार पर बारह अंग रूप विशाल शास्त्रों की रचना की किन्तु फिर भी अंत में यही कहा कि यह शास्त्र रचना में स्थूल कथन ही है।

जड़ वाणी द्वारा अरूपी अतीन्द्रिय भगवान आत्मा का संपूर्ण वर्णन कैसे हो सकता है फिर भी उसका सांकेतिक विवेचन किया गया है। अनेक नय, प्रमाण, निक्षेपों द्वारा पदार्थों का स्थूल और सूक्ष्म कथन न्याय पूर्वक किया गया है। आत्मा निरपेक्ष तत्त्व है, वह पर निमित्त की अपेक्षा से रहित है फिर भी कथन भेद द्वारा अनेकांत धर्म सहित उसका कथन किया गया। वर्णादि रूपी गुण वाली जड़ वाणी आत्मा का कितना कथन कर सके? किन्तु श्रोता शब्दानुगामी वाच्यार्थरूप आत्मा को सत्समागम और गुरूपदेश द्वारा समझ सकता है। अनुपम आत्मतत्त्व अनुपम होने से किसी जड़ वस्तु के साथ उपमा देकर तुलना नहीं की जा सकती। खाने वाला गाय के ताजे घी का स्वाद अनुभव कर सकता है किन्तु उसकी अन्य वस्तु से उपमा देकर तुलना कर उसका संतोष जनक वर्णन नहीं

किया जा सकता। तो फिर अरूपी अतीन्द्रिय आत्मा का वर्णन विकल्प और वाणी द्वारा कैसे किया जा सकता है ? भगवान वीतराग सर्वज्ञ परमात्मा तीर्थंकर देव के वाणी का योग था किन्तु वे भी आत्मा का वर्णन पूर्ण रूप से नहीं कर सके, उन्होंने तो कथंचित् संकेत द्वारा ही आत्मा का वर्णन किया है। आत्मा के अनुभवी वर्तमान ज्ञानी पुरुष अन्य भव्य जीवों को वाणी द्वारा सर्व प्रथम जीव का लक्षण बताते हैं फिर बादमें लक्षण द्वारा वस्तु तत्त्व समझाते हैं। जैसे कोई पुरुष संकेत कर बतावे कि नीम की शाखा के ऊपर बाँई बाजू चन्द्रमा है तत्पश्चात् उस संकेत को समझने वाला लक्ष्य पर दृष्टि करे तो चन्द्रमा दिखे किन्तु अंगुली, वृक्ष आदि निमित्तों पर दृष्टि करे तो चन्द्रमा नहीं दिखे उसी प्रकार भव्य जीव श्री गुरु के पास रहकर सत्समागम द्वारा अभ्यास करे और श्री गुरु अतीन्द्रिय आत्मा को अनेक नय प्रमाणों आदि द्वारा उसे समझावे और उसके परमार्थ को शिष्य समझ जावे तो वह सद्बोधरूपी चन्द्रोदय का दर्शन करे और पुरुषार्थ द्वारा पूर्णता को प्राप्त करे किन्तु ज्ञानी के आशय को नहीं समझे तो सद्बोधरूपी चन्द्रोदय का दर्शन नहीं हो। स्वरूप समझने के लिये सावधान होकर समस्त विरोधों को दूर कर शिष्य श्री गुरु के आशय को समझे तो उसे सम्यग्दर्शन की प्राप्ति हो और साथ ही स्वभाव की पूर्णता प्राप्त करने के लिये पुरुषार्थ की स्थिरता करे।

द्वितीया के चन्द्रमाका दर्शन निम्न तथ्य प्रकाशित करता है—

१—वह पूर्ण चन्द्रमा का आकार बताता है।

२—उस समय वह कितना उघड़ा हुआ है और—

३–कितना उघड़ना शेष है।

साधक पूर्णता के लक्ष्य में पुरुषार्थ करता है वह पुण्यादि उपाधियों को देखकर उनमें नहीं अटकता। अपने अखंड शुद्धात्मा पर ही दृष्टि है इससे पूर्ण आत्मा कैसा है, कितना विकासरूप–अनावृत्त है कितना अनावृत्त होना शेष है, यह जानते हुए साधक शीघ्र पूर्णता को प्राप्त करता है।

जिन्होंने आत्मा की महिमा नहीं जानी, उसकी रुचि प्रतीति नहीं की कि मैं कौन हूँ, मैं क्या कर सकता हूँ और क्या नहीं कर सकता हूँ, जिनको ऐसा प्राथमिक ज्ञान भी नहीं हुआ वे बाह्य से जो कुछ करें वह मिथ्या है, वह आत्महित में साधक नहीं है। अपनी योग्यता और सद्गुरु के उपदेश बिना हिताहित का विवेक जागृत नहीं होता। अनन्तकाल तक अपने को भूलकर अन्य बहुत कुछ किया किन्तु उससे संसार भ्रमण ही हुआ।

श्री गणधर देव हजारों सन्त मुनियों के नायक तीर्थंकर भगवानके प्रधान थे, श्री भगवान की वाणी के आशय को–विशालरूप में धारणकर रखने वाले वे चार ज्ञान के धारी थे, उन्होंने भगवान की वाणी का आशय ग्रहण कर जिन सूत्रों की बारह अंगरूप रचना की थी। श्री सर्वज्ञ भगवान ने केवलज्ञान द्वारा जैसा आत्मस्वरूप जाना वे उसका अनन्तवाँ भाग वाणी द्वारा कह सके; जितना वाणी द्वारा पदार्थ का कथन हुआ उसका अनंतवाँ भाग श्री गणधर देव अपने ज्ञान में ग्रहण कर सके और उसका अनंतवाँ भाग दूसरों को समझा सके और सूत्रों की रचना कर सके।

हजारों सन्त मुनिवरों में अग्रसर ऐसे श्री गणधर देव ने जगत के हित के लिए जिन बारह अंगों की रचना की उसका मुख्य सार 'श्री समयसारजी शास्त्र' में है। फिर भी कागज, शब्द, वाणी आदि अनंत रजकणों के समूह द्वारा और मनके विकल्प द्वारा अतीन्द्रिय आत्मा का वर्णन पूर्ण नहीं हो सकता, किन्तु कथंचित् शब्द द्वारा, नय, प्रमाण दृष्टि के भेद द्वारा आत्मा को बताया जा सकता है, आत्मतत्त्व सर्वथा अवक्तव्य नहीं है-

आत्मा मन-वाणी और इन्द्रियों से भिन्न है इसलिए—

"तेह स्वरूपने अन्य वाणी ते शुँ कहे ?
अनुभवगोचर मात्र रह्युँ ते ज्ञान जो ॥"

जिसको सम्यग्दर्शन द्वारा स्वानुभव हुआ उसने पूर्ण शुद्धताके लक्षसे आंशिक स्वानुभव सहित पूर्ण द्रव्यको जान लिया है। "मैं शुद्ध हूँ, मुक्त हूँ'-ऐसे मनके विकल्पों द्वारा स्वरूपानन्दका अनुभव नहीं होता किन्तु रागरहित ज्ञान की स्वमें स्थिरता (-एकाग्रता) द्वारा सम्यग्ज्ञानी अपनी आत्मा को परोक्ष और प्रत्यक्ष प्रमाण से जानता है इससे वह सिर्फ (-मात्र) ज्ञानगम्य है ॥२०॥

एह परमपदप्राप्तिनुं कर्युं ध्यान में
गजावगर ने हाल मनोरथरूप जो;
तो पण निश्चय राजचन्द्र मनने रह्यो,
प्रभुआज्ञाए थाशुँ ते ज स्वरूप जो ॥अपू०॥२१॥

अपूर्व अवसर काव्य पूर्ण करते हुए श्रीमद् रायचन्द्र कहते हैं कि मैंने पूर्ण शुद्ध आत्मस्वरूप की पूर्ण पवित्र स्थिति को प्राप्त करने के लिए स्वानुभव के लक्ष में ध्यान किया किन्तु अभी वह सामर्थ्य से बाहर और मनोरथ रूप ही है। मनन-चिन्तनरूपी रथ द्वारा अपूर्व रुचि से पूर्णता की भावना करता हूँ। पूर्णता की प्राप्ति के लिए जैसा पुरुषार्थ और स्वरूप स्थिरता होनी चाहिए, वे वर्तमान में सुलभ नहीं हैं। यथार्थ निर्ग्रंथत्व का पुरुषार्थ करनेरूप शक्ति में, वर्तमान में निर्बलता दृष्टिगोचर होती है किन्तु वर्तमान में भी दर्शन विशुद्धि अवश्य है इससे निश्चय शुद्ध स्वरूप के लक्ष्य से एक भव बाद, जहाँ साक्षात् सर्वज्ञ प्रभु तीर्थंकर विराजमान होंगे वहाँ प्रभु आज्ञा से आत्मा का चारित्र धारण कर निर्ग्रंथ मार्ग में उत्कृष्ट साधक स्वभाव का विकास कर बीसवीं गाथा में वर्णित परम पद पाऊँगा। वीतराग की आज्ञा का बहुमान करते हुए साधक कहता है कि मेरी आत्मा में ऐसा निःसंदेह निश्चय है कि अगले जन्म के बाद पुनः शरीर धारण नहीं करना है।

प्रभु आज्ञा स्वीकार करने का तात्पर्य है कि सर्वज्ञ वीतराग भगवान ने जैसा चैतन्य स्वभाव जाना है और जिस उपाय से परमपद प्राप्त किया उसीके अनुसार मुझे प्रवृत्त होना। जिनाज्ञानुसार निर्ग्रंथ मार्ग में वीतराग स्वरूप की आराधना कर परमात्मस्वरूप की प्राप्ति करेगा उसमें किसी प्रकार की शंका नहीं है ऐसा दृढ़ विश्वास उसने अपनी आत्मा में निश्चल किया है। जिसकी अनुभव दशा में इस प्रकार की निःशंकता हो उसका एक ही भव बाकी है, यह श्रीमद् ने प्रभु आज्ञा का विश्वास कर कहा। 'प्रभु आज्ञा' महान सूत्र है;

उसमें भगवान सर्वज्ञ के ज्ञान में गर्भित आज्ञा और उसके साथ अपने भावोंकी संधिका यथार्थ निर्णय सन्निहित है। जो श्री राजचन्द्रजी ने स्वानुभव प्रमाण द्वारा निर्णय किया है इस सूत्र में **'मोक्ष स्वरूप प्रकट करूंगा'** ध्वनित होता है। इस ध्वनि का 'अपूर्व अवसर' कब आवेगा? यह महामंगलमय भावना करते हुए श्रीमद् ने 'अपूर्व अवसर' नामक मंगल काव्य पूर्ण किया।२१।

निर्मलता के लिये सद्दृष्टिवान् को सूचन (उपदेश)

आत्मस्वभाव की निर्मलता करने के लिये मुमुक्षु जीवको दो साधन अवश्य करके सेवन करने योग्य हैं; सत्श्रुत और सत्समागम। प्रत्यक्ष सत्पुरुषों के समागम क्वचित क्वचित जीव को प्राप्त होते हैं; किन्तु यदि जीव सद्दृष्टिवान हो तो सत्श्रुत के बहुत समय के सेवन से होनेवाले लाभ प्रत्यक्ष सत्पुरुष की संगति करने से बहुत अल्पकाल में प्राप्त कर सकते हैं; कारण कि प्रत्यक्ष गुणातिशयवान् निर्मल चेतना प्रभाववाले वचन और वृत्ति क्रियाचेष्टितपना है, जीव को ऐसा समागम योग (संगति) प्राप्त हो ऐसा विशेष प्रयत्न करना योग्य है, और ऐसा योग के अभाव में सत्श्रुत (सच्चे शास्त्र) का परिचय अवश्य करने योग्य है, शान्तरस की जिसमें मुख्यता है, शान्तरस के हेतु से जिसका सभी उपदेश है, ऐसा शास्त्र का परिचय वह सत्शास्त्रों का परिचय है।

क्या साधन शेष रह गया? कैवल्य बीज क्या?
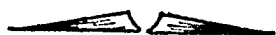
यम नियम संयम आप कियो, पुनि त्याग विराग अथाग लह्यो;
वनवास लियो मुख मौन रह्यो, दृढ़ आसन पद्म लगाय दियो ॥१॥

मनपौन निरोध स्वबोध कियो, हठ जोग प्रयोग सुतार भयो;
जप भेद जपे तप त्यौंहि तपे, उरसेंहि उदासि लही सब पें ॥ २ ॥

सब शास्त्रन के नय धारि हिये, मत मण्डन खण्डन भेद लिये;
वर साधन वार अनन्त कियो, तदपी कछु हाथ हजू न पर्यो ॥ ३ ॥

अब क्यौं न विचारत है मनसे, कछु और रहा उन साधन से ?
बिन सद्गुरु कोउ न भेद लहे, मुख आगल है कर बात कहे ? ॥ ४ ॥

करुना हम पावत है तुमकी; वह बात रही सुगुरू गमकी;
पलमें प्रगटे मुख आगलसे, जब सद्गुरुचर्नसु प्रेम बसे ॥ ५ ॥

तनसे, मनसे, धनसे, सबसे, गुरुदेव कि आन स्वआत्म बसे;
तब कारज सिद्ध बने अपनो, रस अमृत पावहि प्रेम घनो ॥ ६ ॥

वह सत्य सुधा दरसावहिंगे, चतुरांगुल हैं दृगसे मिल है;
रसदेव निरंजन को पिवही, गहि जोग जुगोजुग सो जिवही ॥ ७ ॥

पर प्रेम प्रवाह बढ़े प्रभुसे, सब आगम भेद सु ऊर बसे;
वह केवल को बीज ग्यानि कहे, निजको अनुभौ बतलाइ दिये ॥ ८ ॥

★

अमूल्य तत्त्वविचार

※ हरिगीत छन्द ※

बहु पुण्य केरा पुंजथी शुभ देह मानवनो मल्यो;
तो ये अरे ! भवचक्रनो आंटो नहीं एक्के टल्यो;
सुख प्राप्त करताँ सुख टले छे लेश ए लक्षे लहो;
क्षण क्षण भयंकर भावमरणे काँ अहो राची रहो ? ॥ १ ॥
लक्ष्मी अने अधिकार वधतां, शुं वध्युं ते तो कहो ?
शुं कुटुम्ब के परिवारथी वधवापणुं ए नय ग्रहो,
वधवापणुं संसारनुं नर देहने हारी जवो,
एनो विचार नहीं अहो हो ! एक पल तमने हवो ??? ॥ २ ॥
निर्दोष सुख निर्दोष आनन्द, ल्यो गमे त्यांथी भले,
ए दिव्य शक्तिमान जेथी जंजिरेथी नीकले;
परवस्तुमां नहिं मुंझवो, एनी दया मुजने रही,
ए त्यागवा सिद्धान्त के पश्चात् दुःख ते सुख नहीं ॥ ३ ॥
हुँ कोण छुं ? क्याँथी थयो ? शुं स्वरूप छे मारूँ खरूँ ?
कोना संबंधे वलगणा छे ? राखुं के ए परिहरूँ ?
एना विचार विवेक पूर्वक, शांत भावे जो कर्या,
तो सर्व आत्मिकज्ञाननां सिद्धान्ततत्त्व अनुभव्यां ॥ ४ ॥
ते प्राप्त करवा वचन कोनुं सत्य केवल मानवुं ?
निर्दोष नरनुं कथन मानो तेह जेणे अनुभव्युं ।
रे ! आत्म तारो ! आत्म तारो ! शीघ्र एने ओलखो;
सर्वात्ममां समदृष्टि द्यो आ वचनने हृदये लखो ॥ ५ ॥

रत्न कणिका

जो स्व-पर, जीव-अजीव, क्रोधादि आस्रव और आत्मा, के भेद को जानता है वह ज्ञाता है कर्ता नहीं है।

उष्ण जल में अग्नि की उष्णता और जल की शीतता का भेद, ज्ञान से ही प्रगट होता है, सागादि व्यंजन के स्वाद से लवण के स्वाद का सर्वथा भिन्नत्व ज्ञान से ही प्रकाशित होता है, निज रस से विकसनेवाली नित्य चैतन्य धातु का और क्रोधादि भावों का भेद,—कर्तृत्व का भेदन पूर्वक—ज्ञानसे ही प्रगट होता है।

आत्मा ज्ञान स्वरूप है, स्वयं ज्ञान ही है; वह ज्ञान के सिवा दूसरा क्या करे ? आत्मा परभावों का कर्ता है ऐसा मानना वह व्यवहारी जीवों का मोह है।

वचनामृत वीतराग के, परमशान्तरस मूल;
औषध जो भवरोग के; कायर को प्रतिकूल,

आत्म चिंतन

मैं चेतन, असंख्यात प्रदेशी, सदाय अमूर्त, ज्ञानदर्शनमय, सिद्धस्वरूप, शुद्धात्मा हूँ।

मैं अन्य द्रव्य नहीं, परद्रव्य मेरा नहीं, मैं परद्रव्यरूप नहीं, मैं अन्य का नहीं और अन्य मेरा नहीं, अन्य अन्य है मैं मैं हूँ, अन्य अन्य का है, मैं स्वका हूँ। शरीर मुझसे अन्य है, मैं शरीर से अन्य हूँ; मैं चेतन हूँ, शरीर अचेतन है; वह अनेक है मैं एक हूँ, यह शरीर और शुभाशुभ आस्रव विनाशी है, मैं अविनाशी हूँ।

जीवादि द्रव्य के यथार्थ स्वरूप को जाननेवाला मैं स्व द्वारा, स्वमें, स्वको जैसा मैं हूँ वैसा देख रहा हूँ और अन्य पदार्थों के विषयों के प्रति उदासीन हूँ; राग द्वेष रहित मध्यस्थ हूँ।

मैं सत्‌द्रव्य हूँ, ज्ञान हूँ, ज्ञाता दृष्टा, सदा उदासीन और प्राप्त शरीर प्रमाण होने पर शरीर से पृथक्–आकाश के समान अमूर्त हूँ।

मैं सदा स्वस्वरूप आदि स्वचतुष्टय (स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव) की अपेक्षा सत्‌रूप हूँ और पररूप की अपेक्षा सर्वथा असत् रूप हूँ।

जो कुछ भी जानते नहीं, जिसने कुछ भी जाना नहीं, और भाविकाल में कभी कुछ जान सकेगा ही नहीं ऐसे शरीर आदि हैं वे मैं नहीं।

जिसे पहले जाना था, जो भाविमें जानेगा और वर्तमान में जो जानने योग्य है ऐसा चित्‌द्रव्य मैं वास्तव में ज्ञायक ही हूँ।

यह जगत स्वयं इष्ट या अनिष्ट नहीं है किन्तु उपेक्षा योग्य है; मैं भी राग–द्वेषका करनेवाला नहीं हूँ परन्तु स्वयं उदासीन स्वरूप ही हूँ।

शरीर आदि मुझसे भिन्न हैं, मैं भी तत्त्वतः उन सभी से भिन्न हूँ, मैं उनका नहीं और वे भी मेरे कुछ नहीं। मैं देह, मन, वाणी नहीं हूँ न उसके कार्य का कर्ता, न करानेवाला, न प्रेरक हूँ, किन्तु स्वसन्मुख, शान्त, पूर्ण ज्ञानघन ज्ञाता ही हूँ।

इसप्रकार–सम्यक्‌प्रकार से स्व आत्मा को अन्य पदार्थों से आस्रवों से भिन्न और त्रैकालिक पूर्णज्ञानादि स्वभावों से अभिन्न ऐसा मैं हूँ ऐसा निर्णय करके निर्मलभाव–आत्ममयी भावको करनेवाला ऐसा मैं अन्य कुछ भी चिन्तन नहीं करता।

❋ श्री वीतरागाय नमः ❋

श्रीमत्कुन्दकुन्दाचार्य विरचिता द्वादशानुप्रेक्षा

बारह भावना

परम शुक्ल ध्यान द्वारा दीर्घ संसार का क्षय करने वाले सर्व सिद्धों और चौबीस तीर्थंकरों को नमस्कार कर मैं बारह अनुप्रेक्षा-भावनाओं का कथन करता हूँ ॥१॥

बारह भावनाओं के नामः—अध्रुव, अशरण, एकत्त्व, अन्यत्व, संसार, लोक, अशुचित्व, आस्रव, संवर, निर्जरा धर्म और बोधि दुर्लभ का चिन्तवन करना चाहिए ॥२॥

अनित्य भावना

देवों, मनुष्यों और राजाओं के सुन्दर महल, रथ, वाहन, शय्या-आसन, तथा माता, पिता, कुटुम्बीजन, सेवक सम्बन्धी और प्रिया स्त्री भी अनित्य है ॥३॥

जिस प्रकार इन्द्र धनुष शाश्वत नहीं है उसी प्रकार पाँचों इन्द्रियों का स्वरूप, आरोग्य, यौवन, बल, तेज, सौभाग्य और लावण्य शाश्वत नहीं है ॥४॥

अहमिन्द्रों की पदवी तथा बलदेव, नारायण, चक्रवर्ती आदि की पर्याय भी पानी की लहर या बुदबुदे के समान, इन्द्र धनुष समान, बिजली की चमक समान और बादलों की रंग विरंगी शोभा के समान स्थिर नहीं है ॥५॥

दूध-पानी की तरह जीव निवद्ध शरीर शीघ्र नष्ट हो जाता है तव भोग और उपभोग के कारणरूप पदार्थ किस प्रकार नित्य रह सकते हैं ॥६॥

परमार्थतः आत्मा देव, असुर, मनुष्य और राजा के वैभवसे भिन्न है, वह आत्मा ही शाश्वत है ऐसा चिंतवन करना चाहिए ।७।

अशरण भावना

मृत्यु के समय जीव को तीनों लोक में मणिमंत्र औषधि, रक्षक, घोड़ा, हाथी, रथ, सर्व विद्या आदि कुछ भी शरण नहीं है ।८।

जिनका स्वर्ग तो गढ़ है, जिनके देव नौकर चाकर हैं, जिनके वज्र हथियार हैं और ऐरावत जैसा गजेन्द्र है ऐसे इन्द्र के भी कोई शरण नहीं है ।६।

अन्तिम समय में नवनिधि, चौदह रत्न, घोड़ा, मत्त गजेन्द्र और चतुरंगिणी सेना भी चक्रवर्ती को शरणरूप नहीं है ।१०।

जन्म, जरा, मरण, रोग और भय से आत्मा अपनी रक्षा स्वयं करता है इसलिए कर्मों के वन्ध, उदय और सत्ता से व्यतिरिक्त आत्मा ही शरण है ।११।

अरहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु पंच परमेष्ठी भी आत्मा में ही स्थित हैं इसलिए आत्मा ही मुझे शरण है ।१२।

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र और सम्यक् तप, ये चारों ही आत्मामें ही स्थित इसलिए मुझे आत्मा ही शरण है ।१३।

एकत्व भावना

जीव अकेला ही कर्म करता है, अकेला ही दीर्घ संसार में

परिभ्रमण करता है, अकेला ही जन्म धारण करता है और मरता है; अकेला ही अपने कृत्यों का फल भोगता है।१४।

जीव अकेला ही पाँचों इन्द्रियों के विषयों के निमित्त से तीव्र लोभ से पाप करता है और उसका फल अकेला ही नरक तिर्यंच में भोगता है।१५।

जीव अकेला धर्म निमित्त में पात्र दान द्वारा पुण्य करता है और उसका फल वह अकेला ही मनुष्य, देव गति में भोगता है।१६।

सम्यक्त्व गुण सहित मुनि को उत्तम पात्र और सम्यग्दृष्टि श्रावक को मध्यम पात्र समझना चाहिए।१७।

जैन शास्त्रों में व्रतरहित सम्यग्दृष्टि को जघन्य पात्र और सम्यक्त्वरत्न रहित जीव को अपात्र कहा है इसलिए उनकी अच्छी तरह परीक्षा करनी चाहिए।१८

जो सम्यग्दर्शन से भ्रष्ट है वह भ्रष्ट है, दर्शनभ्रष्ट जीव को मोक्ष की प्राप्ति नहीं है, जो चारित्र से भ्रष्ट है वह कभी मुक्ति प्राप्त करता है किन्तु दर्शनभ्रष्ट जीव सिद्धि प्राप्त नहीं करता है।१९।

संयमी ऐसा चिंतवन करता है कि मैं एक, निर्मम (ममत्त्व रहित) शुद्ध और ज्ञान दर्शन के लक्षणवाला हूँ, शुद्ध एकत्व ही उपादेय ग्रहण करने योग्य है।२०।

अन्यत्व भावना

माता, पिता, भाई, पुत्र, स्त्री आदि बन्धुजनों के समूह जीव के सम्बन्धी नहीं हैं वे सब स्वार्थवश व्यवहार करते हैं।२१।

एक जीव अन्य की चिन्ता करता है, 'यह मेरा है और यह

मेरे स्वामी का है' ऐसा माना करता है किन्तु संसार रूप महा सागर में डूबे हुए अपने आत्मा की चिन्ता नहीं करता है ।२२।

ये शरीरादि भी परद्रव्य हैं, वे जीव से भिन्न हैं, आत्मा ज्ञान दर्शन है ऐसी अन्यत्व भावना का बार २ चिंतवन कर ।२३।

संसार भावना

जिनमार्ग को नहीं देखते हुए जीव जन्म, जरा, मरण, रोग और भयसे भरपूर पाँच प्रकार के संसार में चिरकाल तक परिभ्रमण करते हैं ।२४।

पुद्गल-परिवर्तनरूप संसार में जीव सभी पुद्गल वर्गणाओं को बारम्बार ही क्या अनन्त बार भोगता है और छोड़ता है ।२५। *

क्षेत्र परिवर्तन रूप संसार में अनेक बार भ्रमण करते हुए इस जीव के लिए तीनों लोक के सर्व क्षेत्रों में ऐसा कोई स्थान बाकी नहीं रहा जहाँ यह क्रमशः अवगाहन द्वारा न उत्पन्न हुआ हो ।२६। ×

कालपरिवर्तन रूप संसार में भ्रमण करते हुए जीव अवसर्पिणी-उत्सर्पिणी काल के सब समय और अवलियों में अनेक बार जन्मता है और मरता है ।२७। +

---

* जब कोई जीव अनन्तानन्त पुद्गलों को अनन्त बार ग्रहण कर छोड़ देता है तब उसके एक पुद्गलपरावर्तन होता है ऐसे अनेक द्रव्य परिवर्तन इस जीव ने किए हैं ।

× लोकाकाश के जितने प्रदेश हैं उतने सभी प्रदेशों में क्रमशः उत्पन्न होना और सूक्ष्म से सूक्ष्म शरीर के प्रदेशों से लेकर मोटे से मोटे शरीर के प्रदेशों को क्रमशः पूरा करना 'क्षेत्र परिवर्तन' कहाता है ।

+ अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी काल का जितना समय हो उतने सब समयों में जन्म लेना और मरना 'काल परिवर्तन' कहलाता है ।

मिथ्यात्व के आश्रय द्वारा जीव ने नरक की कम से कम आयु ग्रहण कर ऊपर के ग्रैवेयक पर्यंत अधिकतम आयु प्राप्त कर परिभ्रमण किया है।२८। *

जीव ने मिथ्यात्व के वश होकर सभी प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश बन्धस्थान रूप भावसंसार में बारम्बार भ्रमण किया है।२६। ÷

जो जीव पुत्र स्त्री आदि के निमित्त से पाप बुद्धि पूर्वक धन कमाते हैं और दया तथा दान छोड़ते हैं वे संसार में भटकते हैं।३०।

'यह मेरा पुत्र है, यह मेरी स्त्री है और ये मेरे धन धान्य हैं' ऐसी तीव्र कांक्षा से जो जीव धर्म बुद्धि को छोड़ता है वह बाद में दीर्घ संसार में भ्रमण करता है।३१।

मिथ्यात्व के उदय से जीव जिनोक्त धर्म की निन्दा कर कुधर्म कुलिंग अर्थात् कुगुरु और कुतीर्थ को मानकर संसार में भटकता है।३२।

यह जीव अन्य जीव समूह को मारकर मधु और माँस का सेवन कर, शराब पीकर, परद्रव्य और परस्त्री को ग्रहण कर संसार भटकता फिरता है।३३।

---

* नरक की न्यूनातिन्यून आयु से लेकर ग्रैवेयक विमान के अधिकतम आयु के जितने भेद हैं उन सबका क्रमशः भोग 'भव परिवर्तन' कहाता है।

÷ संबन्ध के करने वाले जितने प्रकार के भाव हैं उन सबके क्रमशः अनुभव को भाव परिवर्तन कहते हैं।

मोहांधकार मोहान्धकार के वशीभूत होकर जीव विषयों के निमित्त से रात दिन पाप कार्यों में संलग्न रहता है और उनसे संसार परिभ्रमण करता है।२४।

नित्य निगोद, इतर निगोद, धातु-पृथ्वीकाय, जलकाय, अग्निकाय, वायुकाय की प्रत्येककी ७-७ लाख योनि, [इन सब मिलकर ४२ लाख] वनस्पति काय की दस लाख, विकलेन्द्रिय की अर्थात् द्विन्द्रिय त्रिन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय प्रत्येक की २-२ लाख [=छह लाख] देव, नारकी और तिर्यंच की ४-४ लाख और पंचेन्द्रिय मनुष्य की चौदह लाख इस प्रकार सब मिलकर संसारी जीव की ८४ लाख योनियाँ होती हैं।३५।

इस संसारमें जितने भी प्राणी हैं उन सब के संयोग-वियोग, लाभ-हानि, सुख-दुख और मान-अपमान हुआ ही करते हैं।३६।

जीव कर्मों के निमित्त से संसार रूप घोर वन में भटका करते हैं किन्तु निश्चयनय से (यथार्थरूप से) आत्मा कर्म से विमुक्त है और उसके संसार भी नहीं है।३७।

संसार से मुक्त जीव उपादेय हैं—और संसार के दुखों से पीड़ित जीव हेय, त्याज्य हैं ऐसा विशेष रूप से चिंतन करना चाहिए।३८।

लोक भावना

जीवादि पदार्थों के समूह को लोक कहते हैं और वह लोक अधो लोक, मध्यलोक और ऊर्ध्व लोक के रूप में तीन प्रकार का है।३९।

नरक अधोलोकमें हैं, असंख्यात द्वीप तथा समुद्र मध्य लोक में हैं और स्वर्ग के ६३ विमान ६३ प्रकार के स्वर्ग के भेद और मोक्ष ऊर्ध्वलोकमें हैं ।४०।

स्वर्गों के विमानों की संख्या इस प्रकार हैं—सौधर्म ईशान स्वर्ग के ३१, सनत्कुमार-माहेन्द्र के ७, ब्रह्म-ब्रह्मोत्तर के ४, लान्तव कापिष्ठ के २, शुक्र महाशुक्र के १, शतार सहस्रार के १, आनत प्राणत, आरण और अच्युत के ६, अधो-मध्य ऊर्ध्व ग्रैवेयक के ९, नव अनुदिश का १, और पाँच अनुत्तर का १ इस प्रकार सर्व मिलकर—६३ विमान हैं ।४१।

जीव अशुभभाव से नरक और तिर्यंच गति पाते हैं और शुभ उपयोग से देव तथा मनुष्य गति प्राप्त करते हैं और शुद्ध भाव से मोक्ष प्राप्त करते हैं। इस प्रकार लोक भावना का चिंतवन करना चाहिए ।४२।

अशुचि भावना

हड्डियों से जुड़ा हुआ, माँस से विलिप्त, चमड़ी से ढका हुआ, और कृमियों के समूह से भरपूर ऐसा यह शरीर सदाकाल मलिन रहता है ।४३।

यह शरीर, दुर्गन्धमय, वीभत्स, खराब, मैल से भरपूर, अचेतन, मूर्तिक (रूप, रस, गंध स्पर्श वाला) और स्खलन-पतन स्वभावी है, ऐसा निरन्तर चिंतन करना चाहिए ।४४।

शरीर रस, रुधिर, माँस, मेद, मज्जा से व्याप्त है, उसमें

मूत्र, पीव और कृमियों की अधिकता है; वह दुर्गंधमय, अपवित्र, चर्मयुक्त अनित्य अचेतन और नाशवान है।४५।

आत्मा देह से भिन्न, कर्म रहित, अनन्त सुख का धाम है और शुद्ध है ऐसी भावना हमेशा करनी चाहिए।४६।

आस्रव भावना

मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग आस्रव हैं और जिन शासन में उनके क्रमशः पाँच, पाँच, चार और तीन भेद अच्छी तरह कहे गए हैं।४७।

मिथ्यात्व के एकान्त, विनय, विपरीत, संशय और अज्ञान ये पाँच भेद हैं और अविरति के हिंसादि ये पाँच भेद नियम से हैं।४८।

क्रोध, मान, माया और लोभ ये भी चार कषाय के भेद हैं तथा मन, वचन और काय ये तीन योग के भेद हैं।४९।

प्रत्येक योग अशुभ और शुभ ऐसे भेद द्वारा दो दो प्रकार के हैं उनमें आहार, भय, मैथुन और परिग्रह ये चार प्रकार की संज्ञा अशुभ मन है।५०।

कृष्ण, नील और कापोत नामक ३ लेश्यायें, इन्द्रियजन्य सुखों में लोलुप परिणाम, ईर्ष्या तथा विषाद भाव उसे श्री जिन भगवान अशुभ मन कहते हैं।५१।

राग, द्वेष, मोह और हास्य, रति अरति, भय, शोक, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुंसक वेद–नोकषाय रूप स्थूल या सूक्ष्म परिणामों को श्री जिनभगवान ने अशुभ मन कहा है।५२।

भोजन कथा, स्त्री कथा, राज कथा और चोर कथा को अशुभ वचन समझना चाहिए; बंधन, छेदन, ताड़न की क्रिया को अशुभ काम जानना । ५३ ।

पूर्वोक्त अशुभ भावों और समस्त द्रव्यों को छोड़ कर जो व्रत, समिति, शील, संयमरूप, परिणाम होते हैं उनको अशुभ मन समझना । ५४ ।

संसार नाश के कारण रूप वचन को जिनेन्द्र भगवान ने शुभ वचन कहा है और जिन देवादि की पूजा रूप श्रेष्ठा को शुभ काय कहा है । ५५ ।

बहु दोष रूप तरंगों से युक्त, दुःखरूप जलचरों से व्याप्त जन्म-रूप इस संसार समुद्र में जीव का परिभ्रमण कर्म के आस्रव के कारण होता है । ५६ ।

जीव इस घोर संसार सागर में कर्मों के आस्रव से डूबता है, ज्ञानवश जो क्रिया है वह परम्परा मोक्ष का कारण है । ५७ ।

जीव आस्रव के कारण संसार समुद्र में शीघ्र डूबता है इस-लिए आस्रव क्रिया मोक्ष का कारण नहीं है ऐसा विचारना चाहिए । ५८ ।

आस्रव क्रिया से परम्परा से भी निर्वाण नहीं है इसलिए संसार गमन के कारण रूप आस्रव को निंद्य जानो ।५९।

आस्रव के पूर्वोक्त भेद निश्चय नय से जीव के नहीं हैं इसलिए द्रव्य और भाव रूप दोनों प्रकार के आस्रव से रहित आत्मा का चिंतवन हमेशा करना चाहिए । ६० ।

संवर भावना

चल, मलिन और अगाढ़ ऐसे तीन दोषों को छोड़कर सम्यक्त्व स्वरूप दृढ़ किवाड़ों से मिथ्यात्व रूप आस्रव के द्वार का निरोध होता है ऐसा श्री जिनेन्द्र भगवान ने कहा है। ६१।

पाँच महाव्रत रूप परिणामों से अविरमण का निरोध नियम से होता है और क्रोधादि आस्रवों का द्वार कषाय रहित पणे से गल जाता है। ६२।

शुभ योग की प्रवृत्तियाँ अशुभ योग का संवर करती हैं और शुद्धोपयोग से शुभ योग का निरोध होता है। ६३।

शुद्धोपयोग से जीव को धर्म ध्यान होता है इसलिए संवर का कारण ध्यान है ऐसा हमेशा चिंतवन करना चाहिए। ६४।

परमार्थ नय से (वस्तुतः) जीव में संवर ही नहीं है इसलिए संवर के विकल्प रहित आत्मा का शुद्ध भावपूर्वक निरन्तर चिंतवन करना चाहिए। ६५।

निर्जरा भावना

बंध प्रदेशों का गलन निर्जरा है ऐसा श्री जिनेन्द्र भगवान ने कहा है जिनके द्वारा संवर होता है उन्हीं के द्वारा निर्जरा भी होती है ऐसा समझना। ६६।

और यह निर्जरा दो प्रकार की है एक तो स्वकाल पकने पर (उनके काल की मर्यादा पूर्ण होने पर) और दूसरी तप द्वारा करने

से होती है जिनमें पहली तो चारों गति वाले जीवों के और दूसरी व्रतियों के होती है। ६७।

धर्म भावना

श्रावक का ग्यारह प्रकार प्रतिमारूप और मुनियों का उत्तम क्षमादि दस प्रकार का धर्म सम्यक्त्व पूर्वक होता है ऐसा उत्तम आत्मिक सुख युक्त श्री जिनभगवान ने कहा है। ६८।

देशविरत श्रावक की ग्यारह प्रतिमाएँ ये हैं:—दर्शन, व्रत, सामायिक, प्रौषधोपवास, सचित्तत्याग, रात्रिभोजन त्याग, ब्रह्मचर्य, आरम्भ त्याग, परिग्रह त्याग, अनुमति त्याग और उद्दिष्ट त्याग। ६९।

मुनिधर्म के दशभेद ये हैं:—उत्तम क्षमा, मार्दव, आर्जव, सत्य, शौच, संयम, तप, त्याग, आकिंचन्य और ब्रह्मचर्य। ७०।

क्रोध उत्पन्न होने के साक्षात् कारण मिलते हुए भी जो जरा भी क्रोध नहीं करता उसे उत्तम क्षमा धर्म होता है। ७१।

जो श्रमण कुल, रूप, जाति, बुद्धि, तप, शास्त्र, शील ऋद्धि संबंधी किंचित् भी अभिमान नहीं करता उसके मार्दव धर्म होता है। ७२।

जो श्रमण कुटिल भाव (माया) छोड़ कर निर्मल हृदय से चारित्र का पालन करता है उसके वस्तुतः आर्जव धर्म होता है। ७३।

जो भिक्षु परसन्ताप कारक वचन छोड़ कर स्व और पर के हित कारक वचन कहता है उसके चौथा सत्यधर्म होता है। ७४।

जो परम मुनि कांक्षाभाव—इच्छा की निवृत्ति कर वैराग्य भावना युक्त रहते हैं उनके शौचधर्म होता है। ७५।

निश्चय सम्यक्त्व के बाद सम्यक् प्रकार से व्रत और समिति के पालनरूप, दंड त्याग रूप (अर्थात् मन वचन काय के योग के निरोध रूप और इन्द्रियों को जीत रूप के जिसके परिणामहोते हैं उनके नियम से संयम धर्म होता है)। ७६।

जो विषय कषाय का विशेष निग्रह भाव कर ध्यान और स्वाध्याय से आत्मा का चिंतवन करे उसके नियम से तप धर्म होता है। ७७।

सब द्रव्यों के प्रति मोह छोड़ कर (संसार, देह-भोग प्रति) उदासीनता को जो भाते हैं उसके त्याग धर्म होता है ऐसा जिनेन्द्र भगवान ने कहा है। ७८।

जो मुनि निःसंग होकर सुख दुःख दायक अपने भावों को रोक कर निर्द्वन्द होकर रहता है उसके आकिंचन्य धर्म होता है। ७९।

जो स्त्रियों के सर्वांगों को देखकर उस ओर के दुष्परिणाम करना छोड़ देता है वह सुकृति—धर्मात्मा दुर्द्धर ब्रह्मचर्य धर्म धारण करता है। ८०।

श्रावक धर्म को छोड़कर जो जोव यतिधर्म की साधना करता है वह मोक्षको छोड़ता नहीं किन्तु मोक्ष की प्राप्ति अवश्य करता है, इस प्रकार धर्म भावना का हमेशा चिंतवन करना चाहिए। ८१।

जीवात्मा निश्चयनय से श्रावक धर्म और मुनिधर्म से भिन्न है इसलिए माध्यस्थ भावना द्वारा शुद्धात्मा का नित्य चिंतवन करना चाहिए। ८२।

बोधि दुर्लभ भावना

जिस उपाय से सद्ज्ञान हो उस उपाय का चिंतवन अत्यंत दुर्लभ बोधि भावना है। ८३।

क्षायोपशमिक ज्ञान वास्तव में कर्मोदय जन्य पर्याय होने से हेय है; स्वक द्रव्य उपादेय है ऐसा निश्चय सद्ज्ञान है। ८४।

कर्म की मिथ्यात्व आदि मूल प्रकृति व उत्तर प्रकृति असंख्यात लोक परिमाण रूप हैं वे सब पर द्रव्य हैं; आत्मा निश्चय-नय से निजद्रव्य है।

निश्चयनय से कुछ हेय उपादेय नहीं है ऐसा ज्ञान प्रकट हो इसलिए मुनियों को संसार से विरक्त होने के लिए बोधि भावना का चिंतवन करना चाहिए। ८६।

* * *

द्वादशानुप्रेक्षा प्रत्याख्यान, प्रतिक्रमण, आलोचना समाधि स्व-रूप हैं इसलिए अनुप्रेक्षा करनी चाहिए। ८७।

यदि अपनी शक्ति हो तो प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान, समाधि, सामायिक और आलोचना प्रतिदिन करनी चाहिए। ८८।

बारह अनुप्रेक्षाओं का सम्यक् प्रकार चिंतवन कर अनादि काल से आज तक जो पुरुष मोक्ष गए हैं उनको बारम्बार प्रणाम करता हूँ। ८९।

अधिक कथन से क्या? इतना ही कहना बहुत है कि भूत-

काल में जितने श्रेष्ठ पुरुष सिद्ध हुए हैं और भविष्य में जो भव्य सिद्ध होंगे वह इन भावना का माहात्म्य समझो । ९० ।

इस प्रकार निश्चय और व्यवहार नय के अनुसार इन बारह भावनाओं का स्वरूप श्री कुन्दकुन्द मुनिनाथ ने कहा है । जो शुद्ध मन से इन भावनाओं का चिंतवन करेंगे वे परम निर्वाण को प्राप्त करेंगे । ९१ ।

* श्री कुन्दकुन्दाचार्यकृत द्वादशानुप्रेक्षा समाप्त *
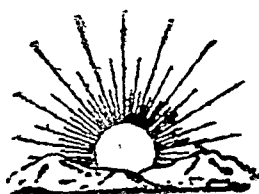
॥ श्री चिदानंद स्वरूपाय नमः ॥

❊ ॐ ❊

सामायिक पाठ

भाषानुवाद सहित

सिद्धवस्तु वचो भक्त्या, सिद्धान् प्रशमतः सदा ।
सिद्धकार्याः शिवं प्राप्ताः सिद्धिं ददतु नोऽव्ययाम् ॥१॥

अर्थः—श्री सिद्ध परमेष्ठी, जगत के सब पदार्थों का यथार्थ स्वरूप कहने वाले जैनागम और उस आगम के मूल प्ररूपक श्री अरहंत भगवान को भक्ति पूर्वक नमस्कार कर और उसमें प्ररूपित सत्य मार्ग पर चल कर जिन आत्माओं ने संसार दुःखको नष्ट करने रूप कार्य को सिद्ध किये हैं ऐसे जीवन मुक्त अरहंत देव और मोक्ष प्राप्त सिद्ध परमेष्ठी मुझे भी अविनश्वर पद-सिद्धि प्राप्त करावें ।

भावार्थः—जिन पुरुषोंने श्री अरहंत और सिद्ध परमेष्ठी को अपना आदर्श मानकर और उनके दिखाए हुए मार्ग का अवलम्बन स्वीकार कर अरहंत और सिद्ध पद प्राप्त किया है वे महापुरुष मुझे भी अविनश्वर पद के मार्ग पर आरूढ़ करें । १ ।

नमोऽस्तु धौतपापेभ्यः सिद्धेभ्यः ऋषिसंसदि ।
सामायिकं प्रपद्येऽहं, भवभ्रमणसूदनम् ॥ २ ॥

अर्थः—मैं समस्त कर्म कलंक को धो डालने वाले श्री सिद्ध परमेष्ठी को अत्यन्त भक्ति पूर्वक अपने मनोमंदिर में विराजमान कर, महर्षि पुरुषों के रहने योग्य कोलाहलादि से रहित, शांत स्थान में स्थित होकर संसार-दुःख का नाश करने वाले और परमानंद प्राप्त कराने वाले सामायिक को प्रारम्भ करता हूँ अर्थात् उसका कथन करता हूँ । २ ।

* साम्यं मे सर्व भूतेषु वैरं मम न केनचित् ।
×आशां सर्वां परित्यज्य ÷समाधिमहमाश्रये । ३ ।

अर्थः—ऐसी भावना करनी चाहिए कि सब जीव मात्र के साथ मेरा साम्यभाव है; किसी के साथ भी वैर नहीं है और समस्त

---

* मोक्षप्राप्ति का एकमात्र उपाय श्री अरहंत प्ररूपित रत्नत्रय का अवलम्बन ही है ।

समता मुझे सब जीव प्रति, वैर न किसी के प्रति रहा ।
मैं छोड़ आशा सर्वतः धारण समाधि कर रहा ॥ १०४ ॥

(नियमसार)

× क्या इच्छत खोवत सबं, है इच्छा दुख मूल;
जब इच्छा का नाश तब मिटें अनादि भूल ।

(श्रीमद् रायचन्द्र)

÷ निर्विघ्न रूप से सम्यग्दर्शन आदि को दूसरे भव में ले जाना समाधि है ।

(बृहद् द्रव्यसंग्रह)

इच्छाओं—आशाओं को छोड़ कर मैं हमेशा आत्म ध्यान में लीन होता हूँ। ३।

रागद्वेषान्ममत्वाद्वा, हा मया ये विराधिता।
क्षमंतु जंतवस्ते मे, तेभ्यः क्षमाम्यहं पुनः। ४।

अर्थः—अनादि काल में अब तक संसार में घूमते हुए मैंने जिन जीवों का रागद्वेष व मोह वश होकर घात किया है उन सब से मेरी विनय पूर्वक प्रार्थना है कि वे मुझे क्षमा प्रदान करें। अनादि काल से आज तक रही मेरी इस दुर्बुद्धि का मुझे अत्यंत खेद है। इसके अतिरिक्त जिन जीवों ने मेरा कोई अपराध किया हो उन्हें भी मैं सरल हृदय से क्षमा करता हूँ। ४।

मनसा वपुषा वाचा, कृतकारितसम्मतैः।
रत्नत्रयभवं दोषं गर्हे निंदामि वर्जये॥ ५॥

अर्थः—यह विचार करना चाहिए कि मन, वचन और काया से कृत कारित और अनुमोदन द्वारा मेरे सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र में जो दोष लगे हों उन सब की मैं गर्हणा करता हूँ, निंदा करता हूँ और उन दोषों को त्याग करता हूँ। ५।

तैरश्चं मानवं दैवमुपसर्गं सहेऽधुना।
कायाहारकषायादीन् संत्यजामि विशुद्धितः॥६॥

मैं इस समय तिर्यंच, मनुष्य और देव द्वारा किए हुए उपसर्ग को शांतिपूर्वक सहन करने को तैयार हूँ। मैं शरीर, अन्य परि-

ग्रह, आहार तथा क्रोधादि कषाय आदि को भी यथा शक्ति छोड़ता हूँ। ६।

रागं द्वेषं भयं शोकं, प्रहर्षोत्सुक्यदीनताः।
व्युत्सृजामि त्रिधा सर्वमरतिं रतिमेव च ॥ ७ ॥

अर्थः—मैं राग द्वेष; भय, शोक, हर्ष, उत्सुकता, दीनता, अरति, रति, आदि सबको मन, वचन और काया से छोड़ता हूँ। ७।

जीवने मरणे लाभेऽलाभे योगे विपर्यये।
बंधावरौ सुखे दुःखे, सर्वदा समता मम ॥ ८ ॥

अर्थः—जीवन मृत्यु में, लाभ हानि में, संयोग-वियोग में, मित्र-शत्रु में, सुख-दुःख में मेरा सदा समभाव रहे—ऐसा चिंतवन करना चाहिए। ८।+

आत्मैव मे सदा ज्ञाने, दर्शने चरणे तथा।
प्रत्याख्याने ममात्मेव, तथा संवरयोगयोः। ९।

अर्थः—सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन, सम्यक्चारित्र में सदा मेरा

+ निंदा-प्रशंसा, दुःख-सुख, अरि-बंधुमां ज्यां साम्य छे।
वली लोष्ट-कनके, जीवित-मरणे साम्य छे, ते श्रमण छे।२४१।

(श्री प्रवचनसार)

आत्मा ही है तथा मेरा आत्मा ही प्रत्याख्यान, संवर और योग में है। ६ ।+

एको मे शाश्वतश्चात्मा, ज्ञानदर्शनलक्षणः ।
शेषा बहिर्भवा भावाः, सर्वे संयोगलक्षणाः । ॥१०॥

अर्थः—मेरा एक शाश्वत आत्मा ज्ञानदर्शन लक्षण वाला है शेष सब बाह्य भाव संयोग लक्षण वाले हैं। १०। ÷

७ भावार्थः—ज्ञान दर्शन स्वरूप एक नित्य आत्मा ही वास्तव में मेरी निधि है, बाकी संयोग लक्षण वाले क्रोध मान, माया, लोभ, राग द्वेष आदि भाव तथा स्त्री, पुत्र. धन, धान्य आदि बाह्य पदार्थ मेरे से भिन्न हैं उनके साथ मेरा कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। १०।

÷मम ज्ञान में है आतमा, दर्शन चरित में आतमा।
है और प्रत्याख्यान, संवर, योग में भी आतमा ॥ १०० ॥

(नियमसार)

मुझ आत्मनिश्चय ज्ञान है मुझ आत्म दर्शन चरित है।
मुझ आत्म प्रत्याख्यान अरु मुझ आत्म संवर–योग है ॥ २७७ ॥

(समयसार)

÷दृग्ज्ञान—लक्षित और शाश्वत मात्र–आत्मामय अरे।
अरु शेष सब संयोग लक्षित भाव मुझसे है परे ॥ १०२ ॥

(नियमसार)

संयोगमूला जीवेन, प्राप्ता दुःखपरम्परा ।
तस्मात्संयोगसंबंधं त्रिधा सर्वं त्यजाम्यहम् । ११ ।

अर्थः—मेरी आत्मा ने अनादिकाल से अब तक कर्मरूप संयोगों का आश्रय लेकर दुःख की परम्परा प्राप्त की है इसलिए मैं अब मन-वचन-काय से सर्व संयोग-सम्बन्ध छोड़ता हूँ ।

इस प्रकार मनन-चिंतन द्वारा आत्मार्थी को हिताहित का विवेक करना चाहिए और आत्मा को शुद्धोपयोग में लीन करना चाहिए ।

एवं सामायिकात्सम्यक्, सामायिकमखण्डितम् ।
वर्तते मुक्तिमानिन्या वशीभूतायते नमः । १२ ।

अर्थः—इस प्रकार सामायिक पाठ में वर्णित विधि के अनुसार जो परम अखंडित सामायिक करते हैं और जिन्होंने मुक्तिरूप स्त्री को वशीभूत किया है अर्थात् मुक्ति प्राप्त की है उनको मेरा नमस्कार हो । १२ ।

[illegible] शुद्ध सदा अरूपी, ज्ञानदर्शनमय खरे,
कंई अन्य [illegible] मारूं जरी परमाणु मात्र नथी अरे । ३८ ।

(श्री समयसार)

शुद्धि पत्र

पेज नं०	लाइन	अशुद्ध	शुद्ध
६	१८	।स्थिति	स्थिति
१४	५	अग्नि की	अग्नि को
१५	१५	अशाता	आशातना
७४	१६	म्हारो	प्रीतम म्हारो
६७	२३	विघ्नता	गृद्धता
१०१	२०	परभाव गाढ	परमावगाढ
१३३	७	वर	वह
१३३	६	कर	कह